॥ ओ३म् ॥

वैदिक-सम्पत्ति

लेखक
पं० रघुनन्दन शर्मा

प्रकाशक :
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट
ब्यानिया पाड़ा, हि[illegible] सिटी (राज०)

ओ३म्

वैदिक-सम्पत्ति

लेखक
पं० रघुनन्दन शर्मा
साहित्यभूषण

परिशोधक व सम्पादक
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, राजस्थान

प्रकाशक : श्री घूड़मल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी,
राजस्थान

संस्करण : प्रथम, जुलाई २००३
द्वितीय, अप्रैल २००४

मूल्य : २००.०० रुपये

शब्द संयोजक : भगवती लेज़र प्रिंट्स
४६/५, कम्युनिटी सेंटर,
ईस्ट ऑफ कैलाश, नई दिल्ली-११० ०६५

मुद्रक : राधा प्रेस
कैलाश नगर, दिल्ली-११० ०३१

प्रस्तावना

वेद संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेद परमात्मा द्वारा प्रदत्त दिव्य ज्ञान है। यह ज्ञान परमात्मा द्वारा सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यमात्र के लिए दिया गया था। यह संसार विधि है और वेद इस संसार का विधान है। वेद ऋषि-मुनियों द्वारा नहीं लिखे गये। ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे—अर्थों का साक्षात्कार करनेवाले थे, मन्त्रों के रचयिता नहीं थे।

'वेद परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान है', यह बात जल्दी से मनुष्यों के गले के नीचे नहीं उतरती। लोग शङ्का करते हैं—परमात्मा स्याही कहाँ से लाया, काग़ज कहाँ से लाया, कलम [लेखनी] कहाँ से लाया। क्या परमात्मा ने वेदों को बण्डल में बाँधकर ऊपर से नीचे उतारा था?

ये सारी शङ्काएँ थोथी हैं। परमात्मा को किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं थी। परमात्मा हृदय में व्यापक है, अत: उसने अन्दर से ही ज्ञान दे दिया।

वैदिक सम्पत्ति के लेखक पं० रघुनन्दनजी शर्मा ने १५-२० वर्ष तक घोर परिश्रम करके सिद्ध किया है कि वेद अपौरुषेय हैं। यह इस पुस्तक का मूल विषय है। पुस्तक के चौथे खण्ड में कुछ वेदमन्त्र जिस क्रम से दिये हुए हैं, उनका अपना ही सौन्दर्य और विशिष्ट महत्त्व है। जीवन के लिए उपयोगी और मनुष्य की शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, सदाचार सम्बन्धी तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक मन्त्रों का एक उत्तम सङ्कलन योग्य विद्वान् ने प्रस्तुत किया है।

आवान्तर विषयों में यज्ञ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह अनूठा है। यज्ञ में आयुर्वेद, ज्योतिष्, वास्तुशास्त्र, गणित, कृषि, कला-कौशल, पशु-पालन, ललितकला और व्याकरण आदि अनेक विषयों का समावेश हो जाता है। वैदिक कर्मकाण्ड हवन-यज्ञ के सम्बन्ध में जो शङ्काएँ उठती हैं, उन सबका समाधान किया गया है। इस प्रकरण को पढ़कर यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

विकासवाद की इस ग्रन्थ में धज्जियाँ उड़ा दी हैं। शर्माजी ने प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया है कि बन्दर से मनुष्य का विकास नहीं हुआ। अमीबा से मेंढक, मच्छली और सर्प का विकास नहीं हुआ। सृष्टि के आदि में ही मनुष्य और अन्य प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार उन-उन योनियों में ही उत्पन्न हुए थे। मनुष्य विकास की ओर नहीं ह्रास की ओर जा रहा है।

भाषा भी ईश्वर-प्रदत्त है। इस विषय में भी लेखक ने अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये हैं और सिद्ध किया है कि मनुष्य भाषा का निर्माण नहीं कर सकता, जैसे वेद परमात्मा-प्रदत्त हैं, ऐसे ही भाषा भी परमात्मा द्वारा प्रदान की गई है।

लेखक ने यह भी अच्छी प्रकार सिद्ध किया है कि वेदों को छोड़कर हमारे सारे साहित्य का विध्वंस किया गया है। मुसलमानों ने साहित्य को जलाया। उनके हमाम पुस्तकों से गर्म होते रहे। अल्लोपनिषद्-जैसा उपनिषद् लिखकर साहित्य में मिलावट की गई। सायणाचार्य, उव्वट, महीधर, मैक्समूलर, ग्रिफ़िथ, मैक्डानल आदि ने वेदों का भ्रष्ट भाष्य किया—यह सब-कुछ इसलिए किया गया, जिससे वेद के प्रति श्रद्धा समाप्त हो जाए। यह बात लेखक ने भली-भाँति सिद्ध की है।

पुस्तक क्या है, ज्ञान का पिटारा है। लेखक ने जीवन के पन्द्रह-बीस वर्ष लगाकर यह ग्रन्थ लिखा है। ग्रन्थ का प्रत्येक पृष्ठ ज्ञान का कोश है।

पुस्तक अत्युत्तम है, परन्तु लेखक की प्रत्येक बात से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। महर्षि दयानन्द मनुष्योत्पत्ति सर्गारम्भ में मानते हैं, आदि सृष्टि तिब्बत में मानते हैं, अब तो वैज्ञानिक इस बात के सिद्ध कर चुके हैं। यह कहना कि वेद के अनुसार झोंपड़ियों में रहना चाहिए, हमें उचित नहीं लगता। इस प्रकार की अन्य भी कुछ बातें हैं, जिनसे मैं सहमत नहीं हूँ, परन्तु पुस्तक का सम्पादन पूरी ईमानदारी से किया है।

इस पुस्तक के इससे पूर्व सात-आठ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी पुस्तक की माँग निरन्तर बनी हुई है। अब यह पुस्तक 'वेदज्योति प्रेस' द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इस संस्करण की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. पुस्तक को कम्प्यूटरीकृत किया गया है। टाइप को पहले से मोटा किया गया है, इसलिए लगभग १०० पृष्ठ बढ़ गये हैं।

२. प्राय: सभी उद्धरणों को उन-उन ग्रन्थों से मिलाया गया है। अशुद्ध पतों को शुद्ध किया गया है। लगभग १५०-२०० उद्धरणों के पते खोजकर लिखे गये हैं। पादटिप्पणी और कोष्ठक [ ] में दिये गये पते हमने लिखे हैं।

३. पुस्तक में उर्दू के शब्दों की भरमार थी—जैसे बारबरदारी, कुदरत, कुदरती, हर्ज, तरह, मतलब, ज़िक्र, मर्जी, वसूल, मंजूर, कायदा, मियाद, बन्दोबस्त, ज़िन्दा, खुराक, मौक़ा, इलाज, वास्ता, जुदा, कोशिश, दलील, मुलतवी, कानून चस्पाँ, हाजिर-नाजिर, गुजर आदि। इन शब्दों के स्थान पर हिन्दी शब्द दिये गये हैं।

४. कहीं-कहीं भाषा का भी परिमार्जन किया गया है।

५. प्रूफ़ संशोधन पर विशेष ध्यान दिया गया है।

६. उद्धृत श्लोकों और मन्त्रों की अनुक्रमणिका बनाकर समाविष्ट की गई है जो आज तक किसी भी संस्करण में नहीं थी।

दिल्ली-दूरभाष : २७२०२२४९

विदुषामनुचर:
जगदीश्वरानन्द सरस्वती
अध्यक्ष
वेद-मन्दिर, ज्वालापुर (हरद्वार)

॥ ओ३म् ॥

प्रकाशक का विशेष निवेदन

आज श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण अर्धशताब्दी के पुण्यमय अवसर पर मेरी ओर से पाठकों की सेवा में ''वैदिक सम्पत्ति'' रखते हुए मुझे हर्ष हो रहा है और साथ ही ऐसे सुअवसर पर इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा साहित्यभूषण हमारे बीच में नहीं हैं, यह बात दु:खद है।

यद्यपि यह पुस्तक ईस्वी सन् १९३१ में छपकर तैयार हो गई थी और ''वैदिक सम्पत्ति'' में वर्णित आर्यसिद्धान्त, वेदों की अपौरुषेयता एवं ईश्वरास्तित्व के विरुद्ध नास्तिकवाद-भौतिकवाद और विकासवाद का मुँहतोड़ उत्तर; तथा वेद, स्मृति, उपनिषद्, दर्शन, इतिहास, पुराण, आदि धर्मग्रन्थों में वर्णित वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन, और आर्य-संस्कृति का सरल और सुन्दर शब्दों में पृथक्करण इत्यादि विषयों को देखकर विश्ववन्द्य श्री महात्मा गाँधीजी ने इस ग्रन्थ की प्रवेशिका लिखना सहर्ष स्वीकारा था।

तदनुसार ईस्वी सन् १९३१ में इस पुस्तक की एक प्रति प्रवेशिकार्थ पूज्य महात्माजी के पास यरोडा जेल में भेज दी गई, परन्तु वहाँ के अधिकारियों ने श्री गांधीजी की लिखित प्रवेशिका मेरे पास भेजने से इन्कार किया और इसी कारण श्री महात्माजी ने उस समय प्रवेशिका लिखने का काम स्थगित कर दिया।

सामयिक सन्धि (ट्रूस) के बाद वे बाहर आकर शीघ्र ही R.T.C. में लण्डन चले गये। वहाँ से आते ही उन्हें पुन: कारावास में जाना पड़ा।

इसके कुछ समय बाद मेरा भी एक साल के लिए जेल जाना हुआ और इस प्रकार मेरी ओर से पुस्तक प्रकाशित करने में विलम्ब होता रहा।

आज के अनशनव्रत के पश्चात् श्री महात्माजी बाहर हैं, और मैं भी छूटकर घर आ गया हूँ; तब प्रवेशिका लिखने के लिए फिर से यह पुस्तक उन्हें सादर दी गई, किन्तु आजकल श्री गांधीजी की अस्वस्थ प्रकृति और उनपर रहते हुए सतत कार्यभार को देखकर सम्भावित है कि उक्त ग्रन्थ की प्रवेशिका लिखने में उन्हें कुछ सप्ताह और लग जाएँ।

अत: जिसका सारा जीवन ही वेदों के पुनरुद्धार, आर्यसिद्धान्तों के प्रचार और आर्यावर्त्त की पुन:रचना के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत के पालने के साथ व्यतीत हुआ है, ऐसे महर्षि स्वामी श्री दयानन्द सरस्वतीजी के निर्वाण की अर्धशताब्दी जैसे सुअवसर पर स्वर्गस्थ स्वामीजी के जीवन सिद्धान्तों की समर्थक इस ''वैदिक सम्पत्ति'' का प्रचार अत्युपयोगी मानकर इसे अभी प्रकाशित कर देना उचित समझता हूँ।

माननीय महात्माजी की ओर से इस ग्रन्थ की प्रवेशिका उपलब्ध होने पर, उसे पीछे रही प्रतियों के साथ जोड़ लिया जाएगा।

''वैदिक सम्पत्ति'' के सुयोग्य लेखक महोदय ने मोक्ष को केन्द्र बनाकर वैज्ञानिक-भौतिक-आध्यात्मिक-राजनैतिक-सामाजिक, प्राच्य तथा अर्वाच्य साहित्य, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगोल, खगोल, ज्योतिष्, नाना लिपिविज्ञान तथा भाषाशास्त्रादि अनेक विषयों का दिग्दर्शन हमें इस ग्रन्थ में करवाया है और अनेक भिन्न-भिन्न विषयों पर पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों के लिखे विविध ग्रन्थों की छानबीन करके आर्यसिद्धान्तों का सतर्क और सप्रमाण

प्रतिपादन किया है।

(इस ग्रन्थ के पीछे लेखक ने १५-२० वर्ष जो अविरत परिश्रम किया है, यह इस पुस्तक में वर्णित विषयों को आद्योपान्त पढ़ने से सुज्ञ पाठक स्वयं ही अनुभव करेंगे।)

आर्यसिद्धान्त, अहिंसा, प्राचीन संस्कृति, विश्वशान्ति, और वैदिक जीवन के प्रेमियों से हमारा नम्र निवेदन है कि ऐसे सुन्दर तथा उत्तम ग्रन्थ का अध्ययन कर लाभ उठाएँ और अपने उचित अभिप्राय को भेजकर हमें कृतार्थ करें। साथ में इस अनुपम ग्रन्थ के प्रचार में भी श्रम उठावें।

''वैदिक सम्पत्ति'' में ७५० के लगभग पृष्ठ हैं। छपाई सुन्दर और चिकने कागजों पर की गई है, तथापि प्रचारार्थ इस ग्रन्थ का मूल्य केवल ६ रुपये रक्खा है।

अन्त में परमदयालु प्रभु से यही प्रार्थना है कि वह प्रत्येक भारतवासी को आर्यसिद्धान्तों को समझने की शक्ति देवे, इन प्राचीन आदर्शों के प्रचार का सामर्थ्य देवे, और इन सिद्धान्तों को हृदय और जीवन में उतारने का बल देवे।

''कच्छ कॅसल,'' मुंबई
विजयादशमी,
विक्रम संवत् १९८९

शूरजी वल्लभदास

ओ३म्

प्रकाशक का निवेदन

आजकल भारतवर्ष में स्वतन्त्रता का शंखनाद बज रहा है, चारों ओर स्वराज्य-प्राप्ति की अभिलाषा उमड़ रही है और सफलता निकट भविष्य में अपनी ज्योति प्रकाशित करना चाहती है। ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उपस्थित होता है कि भविष्य में हमारे राष्ट्र की सभ्यता का लक्ष्य क्या होगा, क्योंकि स्वराज्य मिल जाने पर भी यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि स्वराज्य-भुक्त जन-समाज किस प्रकार का होगा और उसके प्रत्येक व्यक्ति का क्या आचार-व्यवहार, कैसा रहन-सहन और किस प्रकार की आर्थिक सभ्यता होगी, अर्थात् अर्थ (Economy) और काम (Population) की समस्या किस प्रकार हल की जाएगी। यदि मैं भूल नहीं करता तो कह सकता हूँ कि इस पुस्तक में इसी आवश्यक और जटिल समस्या को हल किया गया है, इसलिए यह पुस्तक अपने देश-भाइयों के समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे बड़ा ही आनन्द हो रहा है।

ग्रन्थकर्त्ता ने यह पुस्तक बड़े परिश्रम के बाद लिखी है। इस पुस्तक में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है, वह मनुष्य-जाति के लिए प्रत्येक समय एक ही समान अत्यन्त आवश्यक है। इस ग्रन्थ में वेदों की अपौरुषेयता और उनकी शिक्षा का विस्तृत वर्णन किया गया है और दोनों बातें स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रमाण दिये गये हैं। जो प्रमाण दिये गये हैं वे अनुभूत हैं। मुझे भी अपने स्वाध्याय में कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं, जो ग्रन्थ के बिलकुल अनुकूल हैं। यहाँ पाठकों के अवलोकनार्थ उनमें से कुछ एक लिखता हूँ—

ग्रन्थकर्त्ता ग्रन्थ के उपक्रम में वर्त्तमान नेचरवादियों के सादा रहन-सहन का विस्तृत वर्णन करते हैं। इधर मैं भी पढ़ता हूँ कि जर्मनी के अनेक मनुष्य वस्त्रों का त्याग करके नग्न अवस्था में ही रहना पसन्द कर रहे हैं। जर्मनी में ही नहीं, यूरोप के अन्य देशों में भी लोगों की ऐसी ही प्रवृत्ति दिखलाई पड़ रही है, अतएव अब विलास और विलास-वर्धक आयोजनों का नाश ही दिखलाई पड़ रहा है और आर्यों के-से सीधे-सादे वैदिक रहन-सहन की ओर ही लोग अग्रसर हो रहे हैं। उपक्रम के आगे प्रथम और द्वितीय खण्ड में वेदों की प्राचीनता और अपौरुषेयता सिद्ध की गई है और इस सिद्धि में एक प्रमाण यह भी दिया गया है कि वेद का प्रत्येक वर्ण अपना स्वाभाविक अर्थ रखता है और स्वाभाविक उच्चारणों के ही अनुसार वैदिक वर्णमाला के लिपि-रूप बनाये गये हैं[१]। यही बात मैं १३ अक्टूबर सन् १९३० ई० के लीडर में पढ़ता हूँ। सर रिचर्ड पेजेट कहते हैं कि अंग्रेज़ी वर्णमाला के रूप भी मुखाकृति के ही अनुरूप बनाये गये हैं[२]। इस

---

१. ग्रन्थकर्ता ने २० वर्ष पूर्व यह बात सबसे पहले अपनी अक्षरविज्ञान नामक पुस्तक में सिद्ध की थी।

२. It was pointed out by Sir Richard that just as speech appeared to have developed from pantomimic gesture owing to an unconcious sympathy between the movement of the human hands and body with those of the human mouth and tongue, so the developments of all alphabets appeared to have been influenced by a corresponding sympathy of movement between the human mouth and tongue and the human hands. If the alphabets of different nations were examined it was found that in the letters standing for the sounds of P, B, M and W and also those for the vowel U—in all of which sounds the two lips are more or less protruded and brought together—the symbols are commonly suggested, either of a closed mouth or of two lips closed or projected, or on the point of opening.

कल्पना से चित्र-लिपि के द्वारा अक्षरारम्भ की थ्योरी कट जाती है और ग्रन्थकर्त्ता की ही यह बात सत्य सिद्ध होती है कि वैदिक वर्णमाला के रूप मुखाकृति के ही अनुरूप बने हैं। इसी प्रकार तृतीय खण्ड में बतलाया गया है कि संसार की समस्त मानव-जातियाँ आर्यों से ही पृथक् होकर भिन्न-भिन्न देशों में बसी हैं और भारत में वापस आकर उन्होंने ही कल्पित अनार्य मतों का प्रचार किया है। इस बात को सिद्ध करनेवाली दो-तीन बातें अभी हाल ही में मैंने भी पढ़ी हैं। बर्मा को भारत से अलग न करने की अपील करते हुए ता० १९ मार्च सन् १९३१ के फ्री प्रेस जरनल में रेवरेंड ओत्तम लिखते हैं कि 'बरमा में अनेक नगरों के नाम आर्यों के हैं और अर्जुन के साथ प्रमिला का स्वयंवर विवाह भी प्रसिद्ध है'[१]। इसी प्रकार अभी हाल की खोज के अनुसार 'कल्पक' नामी पत्र में श्रीयुत रामास्वामी अय्यर लिखते हैं कि 'पेलिस्टाइन प्रदेश में बसनेवाले यहूदी भारतवासी ही हैं। वे दक्षिण (मद्रास प्रान्त) से ही जाकर वहाँ बसे हैं। उनमें जो ख़तना का रिवाज पाया जाता है वह भी दाक्षिणात्यों का ही है। दाक्षिणात्यों के ख़तने की बात वात्स्यायन मुनि के कामसूत्र में भी लिखी है[२]। इसी प्रकार पैलिस्टाइन नाम भी गुजरात के पालीताणा ग्राम पर से ही रक्खा गया है, जिससे हज़रत ईसा का पालीताणा में आकर जैन और बौद्धों के सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त करना भी सिद्ध होता है[३]। अब रहे दाक्षिणात्य (द्रविड़) वे तो आर्य हैं ही। ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि यद्यपि चन्दन और कर्पूर मद्रास प्रान्त की ही उपज हैं, परन्तु दोनों

Examples given from our own alphabets by Sir Richard were—
A, which was originally written lying on its side, suggests an open mouth facing the right. B is the profile of two lips pointing towards the right. E represents a mouth pointing to the right with the tongue at mid height, as in pronouncing the sound of E in men. I is an elevated tongue, as in the sound of ea in eat. L is another vertical tongue sign. M represents two lips in profile pointing upwards. O is a front view of a rounded mouth., T is a vertical tongue, touching the horizontal palate. U and V are both pairs of protruded lips. W is a pair of lips like M, but pointing down instead of up. Every letter of our alphabet, except possibly H and Q, said Sir Richard, was closely related to the shape of mouth which produced it. —'Leader' 13the October 1930

१. Many traditions connect Burma with India from very very ancient times. Arjuna, one of the Pāndvās, married by *Swayamvaram*, a Burmese girl named Pramila, as pronounced in Burma *Pryamila* (Prya and la mean beautiful and mi means girl). Many ancient names of Burmese towns were Indian names. Pagan, the ancient capital of the Burmese people, even now has got Pagodas which are purely on Indian style. Thatean, in the southern Burma, was first invaded by the armies of the Maharaja of Conjeevaram, 1300 years ago who introduced Buddhism in Burma and that place was known as *Swarna Bhumi*. Shweho was known as *Swarna Puri*, and there are many other places which have ancient Sanskrit names. —Free Press Journal, 19th March 1931

२. दाक्षिणात्यानां लिंगस्य कर्णयोरिव व्यधनं बालस्य। कामसूत्र।७।२।१५

३. श्रीयुत सुब्रह्मण्य अय्यर के पुत्र श्रीयुत रामास्वामी अय्यर लिखते हैं कि सीरिया प्रदेश के 'कोल' ग्रामनिवासी एक यहूदी ने एरिस्टोटल (अरस्तू) से कहा था कि यहूदी लोग आदि में दक्षिण भारत के निवासी हैं। एरिस्टोटल के प्रसिद्ध शिष्य और इतिहास-लेखक 'कलियरक्स' के लेख से सिद्ध होता है कि यहूदी लोग पहले तमिलभाषा ही बोलते थे। तमिलभाषा ही हिब्रूभाषा की जननी है। हिब्रू में ग्रीक शब्दों के मिल जाने से ही उसका यह रूप बना है। यहूदियों के इतिहास लेखक 'जोजक्स' के लेख से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में गुजरात प्रदेश द्राविड़ों के ताबे में था और गुजरात का पालीताणा नगर तामिल नाइडू प्रदेश के अधीन था। यही कारण है कि दक्षिण से दूर जाकर भी यहूदियों ने पालीताणा के नाम से ही 'पैलिस्टाइन' नाम का नगर बसाया और गुजरात का पालीताणा ही पैलिस्टाइन हो गया। गुजरात का पालीताणा जैनों का प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। प्रतीत होता है कि ईसू ख्रीस्ट ने इसी पालीताणा में आकर बाइबिल लिखित ४० दिन के जैन-उपवास द्वारा जैन शिक्षा लाभ की थी।

—'बम्बई समाचार' ता० २१ मार्च सन् १९३१।

के नाम दक्षिण की भाषा में नहीं हैं। उनके नाम संस्कृत के ही हैं। इसी प्रकार की एक वस्तु हमको और भी मिलती है जो वास्तव में दक्षिण की ही उपज है, परन्तु उसका नाम संस्कृत का है। वह है मोती। मोती को तमिलभाषा में मुत्ता कहते हैं। लोग कहते हैं कि मुक्ता शब्द इसी मुत्ता का अपभ्रंश है, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। ता० २० मार्च सन् १९३१ के फ्री प्रेस जरनल में बी० नारायण एम्०ए०, एम०एल० लिखते हैं कि मोती पृथक्-पृथक् होते हैं—उनका गुच्छा नहीं होता। इसी से वे मुक्ताफल कहलाते हैं। मुक्ता शब्द संस्कृत का है ही, अतएव संस्कृत शब्द के द्वारा अपने देश की उपज का नाम रखनेवाले द्रविड़ आर्यों से भिन्न कभी नहीं हो सकते[१]। अब रहा अनार्यों के विश्वासों का आर्यों में प्रवेश। इसके लिए 'कलकत्ता रिव्यू' में अतुलकृष्ण सूर लिखते हैं कि वैदिक आर्यों में काली, कराली, दुर्गा आदि की पूजा अनार्यों से ही आई है[२]।

इसके आगे चतुर्थ खण्ड है और इसी में ग्रन्थ का प्रधान विषय वर्णित है। ग्रन्थकर्ता ने इस खण्ड में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का बड़ा ही विशद वर्णन किया है और बतलाया है कि संसार के सारे अर्थकष्ट का कारण कामुकता ही है। अथर्ववेद के स्वाध्याय में मुझे भी एक मन्त्र मिला है, जो इस बात को बहुत ही स्पष्ट रीति से पुष्ट करता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

कामो यज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ —अथर्व० ९।२।१९

अर्थात् काम सबसे पहले पैदा हुआ। इसको न देवों ने जीत पाया, न पितरों ने और न मनुष्यों ने, इसलिए हे काम! तू सब प्रकार से बहुत बड़ा है, अतः मैं तुझको नमस्कार करता हूँ।

इस मन्त्र में काम की प्रचण्डता का वर्णन है। इस काम को प्रचण्ड बनानेवाला विलास है, और विलास में सबसे प्रधान वस्तु वेश-भूषा है। वेश-भूषा के विषय में ग्रन्थकर्त्ता ने आर्यों की सभ्यता के अनुसार बतलाया है कि आर्यलोग बिना सिला हुआ वस्त्र ही पहना करते थे। ऐसे प्रमाण भी मिले हैं, जो सिले हुए वस्त्र का निषेध करते हैं। वस्त्रों के विषय में आर्यों का क्या सिद्धान्त था, यह महाभारत और कालिकापुराण के अवलोकन से अच्छी प्रकार प्रकट हो जाता है[३]। इतनी ही नहीं कि आर्यलोग सीधे-सादे वस्त्र पहनते थे, प्रत्युत वे अपने देश के ही बने हुए वस्त्र पहनते थे, विदेश के बने हुए नहीं। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि राजा पाण्डु के शव आच्छादन के लिए देशज, अर्थात् देश के बने हुए कफ़न का ही उपयोग किया था[४]। यह बात

---

१. The word for pearl is another instance. Of course it is easy to say that the Sanskrit word *Mukta* came from the Tamil word *Mutta* but such an answer is unconvincing. Pearl was apparently called *Mukta* because it did not grow in bunches, but grew separately, a single pearl in on Oyster. That the word *Mukta* or *Muktaphala* was used in Sanskrit in distinction with the bunches or Kulas of fruits is seen from the nomenclature for single verses and for bunches of verses linked together. The former is called a *Muktakam* and the later *kulkam*. The same nomenclature is copied by tamil grammarians, and one is familiar with 'Kulai' the tamil form of the Sanskrit word Kula for bunches.
—Free Press Journal 20th March 1931.

२. This is not impossibile, for India has always been a land of the Mother Goddess cult. It is a distinguishing feature of the pre-Aryan Dravidian civilization. The Aryans have borrowed it from their Dravidian neighbours.
—Leader, 1st June, 1931.

३. न स्तूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः। मुषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद्विचक्षणः॥ —महाभारत
कार्पासं काम्बलं बाल्कं कोषजं वस्त्रमिष्यते। निर्दशं मलिनं जीर्णं छिन्नं गात्रावलिङ्गितम्।
परकीयं वाऽऽखुदष्टं सूचीबिद्धं तथासितम्। उत्तकेशं विधौतं च श्लेष्ममूत्रादिदूषितम्।
प्रदाने देवताभ्यश्च देवे पित्रे च वर्जयेत्॥ —कालिकापुराण

४. अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन्। सच्छन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नराधिपः॥ —महाभारत

कितनी राष्ट्रीयता से भरी हुई है। किसी कवि ने कहा है कि **'मरें तो बदन पर स्वदेशी कफ़न हो'**। वही बात महाभारत का उक्त स्वदेशी वस्त्र-प्रयोग अच्छी प्रकार पुष्ट कर रहा है। यहाँ यह बात अच्छी प्रकार प्रकट हो रही है कि आर्यलोग जिस प्रकार भोजन के लिए अपना निज का उत्पन्न किया हुआ अन्न धर्मानुकूल समझते थे, उसी प्रकार वे अपने ही बनाये हुए वस्त्रों का उपयोग भी उत्तम समझते थे। भोजन के लिए तो उन्होंने यहाँ तक नियम बना दिया था कि तपस्वी आर्यों को नमक भी अपने ही हाथ का बनाया हुआ खाना चाहिए। यह बात उन्होंने मनुस्मृति-जैसे मान्य ग्रन्थ में स्पष्ट रीति से लिख भी दी है[1]। इस प्रकार से इस ग्रन्थ में आर्यों की सादगी का जो वर्णन किया गया है, वह यथार्थ ही है, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आर्यलोग केवल सीधे-सादे भोजन-वस्त्र के ही आयोजन में रहा करते थे और पढ़ने-लिखने, समाज और राष्ट्र चलाने तथा ज्ञान-विज्ञान में उनकी गति ही न थी यह बात नहीं है। उनकी गति प्रत्येक आवश्यक विषय में थी, जो इस ग्रन्थ के आद्योपान्त पढ़ने से अच्छी प्रकार स्पष्ट हो जाती है। हाँ, वे विलासी न थे, इसीलिए भौतिक विज्ञानजात कलापूर्ण पदार्थों का उपयोग नहीं करते थे वे सादा जीवन और उच्च विचार (palin living and high thinking) के माननेवाले थे यह बात हमें वेद के स्वाध्याय से अच्छी प्रकार ज्ञात हो जाती है। यजुर्वेद अध्याय ४० में लिखा है कि—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयः सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳ रताः॥

—यजुः० ४०।११, ९

अर्थात् जो कारणजंगत् और कार्यजगत् को साथ-साथ जानता है, वह कार्यजगत् के नाश को देखकर मृत्यु की समस्या को हल कर लेता है और कारणजगत् की नित्यता को जानकर अमरत्व का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, परन्तु जो कार्यजगत् के मोह में फँस जाता है, वह महा अन्धकार (अज्ञान) में डूब जाता है और जो कारणजगत् में रत हो जाता है, वह उससे भी अधिक दुःख के गहरे गर्त में समा जाता है।

तात्पर्य यह कि प्रकृति की स्थूलता और सूक्ष्मता का ज्ञान सम्पादन करना तो अच्छा है, परन्तु उनमें रत हो जाना बहुत ही बुरा है। आज संसार में जो उथल-पथल मचा हुआ है उसका कारण स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति की—विलास और कलाकौशल की बेहद उपासना ही है, इसीलिए आर्यों ने प्रकृति को जाना तो ख़ूब था, परन्तु उसमें कभी रत नहीं हुए। इसका कारण यही था कि समाज विलासी न हो जाए, कामुक न हो जाए और जनसंख्या की वृद्धि तथा अर्थकष्ट का भयंकर संकट उपस्थित न हो जाए। इस आर्यसभ्यता के मूलरूप वैदिक धर्म का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है। वहाँ लिखा है कि **'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः[2]'**, अर्थात् धर्म के तीन विभाग हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान पहला विभाग है[3], तप दूसरा विभाग है और ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यकुल में वास तीसरा विभाग है। यहाँ धर्म का रूप यज्ञ, स्वाध्याय, दान, तप और ब्रह्मचर्य बतलाया गया है। ठीक है, यज्ञ, स्वाध्याय और दान ही मनुष्य-समाज का कर्त्तव्य है, परन्तु वह

---

१. देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः। शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम्॥ —मनुस्मृति

२. छान्दोग्य० २।२३।१

३. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ —यजुर्वेद [३१।१६]

बिना तप के नहीं हो सकता और न तप बिना ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यकुल में रहे सम्पन्न हो सकता है, इसीलिए आर्यों ने अपनी सारी सभ्यता को ब्रह्मचर्य की दृढ़ नीव पर स्थिर किया है और जीवन का ३/४ भाग ब्रह्मचर्य और तप के साथ बिताने का आदेश किया है। यह बात ग्रन्थकार ने उपसंहार में बड़ी ही उत्तमता से दिखलाई है। आपत्तिरहित अवस्था में वैदिक आर्यों का समाज इसी सभ्यता का पालन करते हुए चलता था। हाँ, आपत्ति के समय संकटनिवारण करने के लिए सीखे हुए विज्ञान का उपयोग अवश्य किया जाता था, जो आर्य सभ्यता में विशेष रीति से कहा गया है और जिसको ग्रन्थकर्ता ने वर्णाश्रम व्यवस्था का विस्तृत वर्णन करके बहुत अच्छी प्रकार समझा दिया है। यही वैदिक आर्यों की सभ्यता का आभ्यन्तरिक सिद्धान्त है। इसको असम्भव न समझना चाहिए। यह इस देश में बहुत काल तक प्रचलित रह चुका है और इस समय भी प्रचलित किया जा सकता है। बिना इसके संसार को वास्तविक सुख-शान्ति की प्राप्ति असम्भव प्रतीत होती है। सन्तोष की बात है कि ग्रन्थकार ने इस प्राचीन वैदिक मार्ग को ढूँढ़ निकालने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है, इसीलिए मुझे यह प्राचीन योजना संसार के सामने उपस्थित करते हुए बड़ा ही आनन्द हो रहा है।

यह समय राष्ट्र-परिवर्तन का है। राष्ट्र-परिवर्तन पुनर्जन्म के समान ही होता है। जिस प्रकार नवजात शिशु में अमुक रीति-नीति के संस्कार जन्मकाल से ही सरलता से डाले जा सकते हैं, उसी प्रकार अभीष्ट सभ्यता का प्रचार भी राष्ट्र-निर्माण के साथ ही साथ सरलता से किया जा सकता है। राज्य-परिवर्तन के साथ-साथ यदि अनिश्चित सभ्यता को अंगीकार कर लिया तो फिर उसका छोड़ना कठिन हो जाता है, इसलिए मैंने इस आवश्यक ग्रन्थ को इसी समय में, जो बहुत ही उपयुक्त समय है, समस्त भारतीय जनता के सम्मुख उपस्थित किया है। मेरी इच्छा थी कि मैं इसपर पूज्य महात्मा गांधीजी से भी कुछ लिखवाऊँ, परन्तु उनको इस समय इतना बड़ा ग्रन्थ पढ़कर और विचारपूर्वक कुछ लिखने का अवकाश नहीं है, इसलिए उन्हें कष्ट नहीं दिया गया।

मैं चाहता था कि ग्रन्थ का जैसा श्रेष्ठ विषय है वैसा ही ग्रन्थ भी श्रेष्ठ बने, परन्तु इस वर्ष के गत राष्ट्रीय कार्यों के कारण अवकाश न मिल सका और इच्छानुसार ग्रन्थ की सुन्दरता न बढ़ाई जा सकी। सम्भव है, दृष्टि-दोष से कुछ ग़लतियाँ रह गई हों, उनको क्षमा करें।

विनीत—

शूरजी वल्लभदास

कच्छ कॅसल—मुम्बई
१३ सितम्बर, १९३१

ओ३म्

भूमिका

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव॥ —यजुः० ३०।३

इस समय संसार के प्रत्येक विभाग में नाना प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्रान्तियाँ हो रही हैं और नाना प्रकार के सिद्धान्त स्थिर हो रहे हैं। कहीं नेशनलिज़्म, कहीं सोश्यलिज़्म, कहीं अनारकिज़्म और कहीं कम्यूनिज़्म सुनाई पड़ता है, परन्तु किसी भी सिद्धान्त से मनुष्यों को सन्तोष नहीं है। मनुष्यों ने अब तक मनुष्यसमाज को सुखी बनाने के लिए जितने सिद्धान्त स्थिर किये हैं, गिनने में उनकी संख्या चाहे जितनी हो, परन्तु वे सब चार विभागों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। ये चारों विभाग (अशिक्षावाद, भौतिकवाद, साम्यवाद और नेचरवाद) के नाम से कहे जा सकते हैं। अशिक्षावाद से हमारा तात्पर्य संसार के समस्त असभ्यों के रहन-सहन से है जो प्रायः जंगलियों में पाया जाता है और जिसमें किसी प्रकार का उन्नत ज्ञान ज्ञात नहीं होता (भौतिकवाद से हमारा तात्पर्य वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका की उन्नति से है, जिसमें सब काम भौतिक विज्ञान के ही अनुसार होते हैं। साम्यवाद से हमारा तात्पर्य वर्त्तमान रूस के बोल्शेविक सिद्धान्तों से है, जिनके अनुसार सबको एक समान साम्पत्तिक सुख पहुँचाने का प्रयत्न हो रहा है और नेचरवाद से हमारा तात्पर्य यूरोप के उन सिद्धान्तों से है जिनके अनुसार वहाँ के विचारवान् प्राकृतिक जीवन बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं) बस, यही चारों प्रधान विभाग हैं, जिनकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ संसार में दिखलाई पड़ती हैं। इन चारों *विभागों की बनावट ऐसी है कि यदि इनको एक-दूसरे का परिणाम कहें तो अत्युक्ति न होगी, क्योंक हम देखते हैं कि जितनी असभ्य जातियाँ हैं, यद्यपि सब खाती-पीती हैं, सोती-जागती हैं, ब्याह-शादी* करती हैं, लड़के-बच्चे पैदा करती हैं, गाती-बजाती हैं और पूर्ण आयु जीती हैं, अर्थात् अपनी एक पूर्ण सभ्यता रखती हैं, जिसके अनुसार अपनी समस्त आवश्यक जीवन-यात्राओं को अच्छी प्रकार सम्पन्न करती हैं, परन्तु वे अपनी इस सभ्यता की रक्षा नहीं करना चाहतीं। यदि उनको दौलत मिल जाए तो वे तुरन्त ही अपनी सभ्यता को छोड़ दें और धीरे-धीरे भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर होती हुई भौतिकवाद में बिला जाएँ। इस बात का नमूना हम संसार में देख रहें हैं। हम देख रहे हैं कि देखते-देखते यूरोप की अनेक जातियाँ असभ्य और जंगली सभ्यता से निकल-निकलकर यूरोप के वर्त्तमान भौतिकवाद में विलीन हो गईं। इसी प्रकार जापान, मिस्र, तुर्किस्तान और चीन इत्यादि की अर्धशिक्षित और अर्धसभ्य जातियाँ भी उसी भौतिकवाद में समाती जाती हैं, किन्तु जब भौतिकवाद की ओर देखते हैं तब पता चलता है कि भौतिकवाद भी अपनी वर्त्तमान स्थिति से स्वयं सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि भौतिकवाद में भी जंगली प्रवृत्ति ही काम कर रही है। जिस प्रकार जंगली अवस्था में अवसर पाकर एक जंगली दूसरे जंगली से अधिक सुखी होने में कुछ भी विचार नहीं करता, प्रत्युत साथवालों को छोड़कर तुरन्त ही अधिक सुख का भोग करने लगता है, उसी प्रकार भौतिकवादी भी अपने स्वार्थ के सामने दूसरे के दुःखों की परवाह नहीं करता। यही कारण है कि जिस प्रकार असभ्य और अर्धसभ्य जातियाँ भौतिकवाद में समाती जाती हैं उसी प्रकार असमानता और अशान्ति से तंग आकर भौतिकवाद भी साम्यवाद और नेचरवाद में परिणत होता जाता है। भौतिकवादियों के इन दो मार्गों के अवलम्बन करने का कारण यह है कि उनमें अब तक सबको एक समान उच्च शिक्षा नहीं मिली। उनमें अबतक शिक्षित और अर्धशिक्षित दो प्रकार के लोग हैं, इसीलिए अर्धशिक्षित लोग भौतिक साम्यवाद को और उच्च शिक्षित लोग नेचरवाद को पसन्द करते हैं। अर्धशिक्ष्ति यह तो मानते हैं कि असमानता अच्छी नहीं है, परन्तु भौतिकवाद में जो विलास का विष है उसके त्यागने की योग्यता अभी उनमें नहीं आई।

वे अब तक सबको एकसमान ही विलाससामग्री पहुँचाना चाहते हैं। वे समझते हैं कि यदि सबको भौतिक विलास और भौतिक आमोद-प्रमोद पहुँचा दिया जाए तो सब लोग सुखी हो जाएँ। उनके ध्यान में यह बात अभी नहीं आती कि एक तो संसार में इतना विलास का बढ़ानेवाला सामान ही नहीं है, जो सब मनुष्यों को समानता से दिया जा सके, दूसरे विलास से मनुष्य को कभी सन्तोष नहीं होता और अन्त में उसका मन अत्यन्त पतित हो जाता है और वह कामी बनकर फिर उसी पशुवत् दशा में चला जाता है, जहाँ से निकलकर वह भौतिकवाद में होता हुआ साम्यवाद तक पहुँचा है, परन्तु यूरोप के उच्च शिक्षितों की बात और है। वे इस भौतिक साम्यवाद के दुर्गुणों को जानते हैं। वे जानते हैं कि भौतिक विलास और शृङ्गार की मात्रा चाहे जितनी कम हो, उसमें यह प्रभाव है कि वह नशे की भाँति धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और अन्त में मनुष्य का नाश कर देता है, इसीलिए उन्होंने बड़े ज़ोर से लोगों को पुकारा है कि लौटो, लौटो! नेचर की ओर लौटो!!

इस कारणकार्यमाला से ज्ञात होता है कि नेचरवादियों के सिद्धान्त भी भौतिकवाद के ही परिणाम हैं, अर्थात् जिस प्रकार अशिक्षावाद का परिणाम भौतिकवाद है, उसी प्रकार भौतिकवाद का परिणाम साम्यवाद और साम्यवाद का परिणाम नेंचरवाद है। नेचरवादियों का विचार है कि समस्त बुराइयों की जड़ भौतिकवाद, अर्थात् विज्ञानवाद ही है, इसीलिए नेचरवाद में बौद्धिक विचारों को स्थान नहीं दिया जाता। नेचरवादियों का विश्वास है कि मनुष्य को उसके बौद्धिक विचारों ने ही पतित किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य जब अपनी स्वाभाविक स्थिति में था, उस समय उसमें इस प्रकार का विचार-स्वातंन्त्र्य न था। वह एक प्रकार का पशु था और पशुओं की ही भाँति उसे भी नेचर की ओर से प्रेरणाएँ मिलती थीं और तदनुसार व्यवहार करने से ही वह हर प्रकार से सुखी था, इसीलिए यदि सच्चे सुख की अभिलाषा हो तो बौद्धिक विचारों को छोड़कर सबको फिर नेचर के ही अधीन हो जाना चाहिए। यद्यपि सुनने में ये बातें बड़े मार्के की प्रतीत होती हैं, परन्तु इसकी विशेषता तभी तक है जब तक इसका व्यवहार पढ़े-लिखे लोग कर रहे हैं। ज्यों ही लोगों ने पढ़ना-लिखना छोड़कर नेचर की ओर बढ़ना आरम्भ किया और एक सौ वर्ष व्यतीत किये, त्यों ही उनकी यह सभ्यता उनकी सन्तति के हाथ से निकल जाएगी और वे फिर उसी प्रकार के घोर जंगली और असभ्य बन जाएँगे जिस प्रकार के वे नेचरवाद के पहले और भौतिकवाद के भी पहले थे। इस प्रकार से यह चक्कर घूमकर वहीं पहुँचेगा जहाँ से चला है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि लोगों की ये अनेक स्कीमें और अनेक विधियाँ जो मनुष्यजाति को सुखी बनाने के लिए यूरोप में निकाली गई हैं, सब उपर्युक्त चार ही विभागों में समा जाती हैं और जिस प्रकार बाइचान्स—इत्तफ़ाकिया—कारणकार्याभाव से उत्पन्न हुई हैं, उसी प्रकार एक-दूसरी का परिणाम होने से अन्त में अपने कारण में—जंगली दशा में—समा जाएँगी। इसका कारण यही है कि ये सब विधियाँ मनुष्यों ने आवश्यकता उत्पन्न होने पर अपने स्वार्थ के लिए स्थिर की हैं, सृष्टि की वास्तविक रचना और उसके वास्तविक उपयोग पर ध्यान देकर नहीं। सृष्टि की वास्तविक रचना और उसके उपयोग करने की वास्तविक विधियों का ठीक-ठीक पता लगाना मनुष्यबुद्धि के बाहर है। उसका सच्चा ज्ञाता तो परमेश्वर ही है। वही आदि में मनुष्यों को सब भेद और विधियाँ बतलाता है। उसके बतलाये हुए रहस्यों और विधियों का ही संग्रह वेदों में है, इसलिए जब तक मनुष्य अपना धर्म, समाज और राष्ट्र वैदिक विधि के अनुसार निर्माण न करे तब तक वह स्थायीरूप से सुखी नहीं रह सकता।

यह वैदिक विधि जो आर्यसभ्यता में ओत-प्रोत है एक पाँचवीं विधि है, जिसका नाम त्यागवाद है। हमने इस विधि को इसलिए उपस्थित करना उचित समझा है कि भारतवर्ष अब निश्चय ही अपना राष्ट्रनिर्माण करने के लिए उद्विग्न है और उसके राष्ट्रनिर्माण का एक विलक्षण प्रभाव संसारभर पर पड़नेवाला है, क्योंकि भारतवर्ष संसार की समस्त जनसंख्या का पाँचवाँ भाग है और अपनी प्राचीनता में समस्त संसार का पितामह है। उसकी सभ्यता, उसका दर्शन और उसका धर्म आज भी संसार में

सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है और आज भी उससे संसार के सभी लोग अधिक लाभ उठा रहे हैं। ऐसी दशा में संसार की समस्त जातियाँ उत्सुकता से सुनना चाहती हैं कि भारतवर्ष अपनी कौन-सी नीति स्थिर करता है, अतः हमने समस्त संसार के उन लोगों के सामने जो नाना प्रकार की स्कीमें सोचा करते हैं और भारतवर्ष के उन लोगों के सामने जो भारत के लिए भी कोई विधि निश्चित करना चाहते हैं, इस त्यागवाद की विधि को उपस्थित करने का साहस किया है। हमारा विश्वास है कि इस वैदिक त्यागवाद की विधि से ही भारतवर्ष और संसार का कल्याण हो सकता है, अन्य विवादग्रस्त वादों और विधियों से नहीं, क्योंकि संसार में सब प्रकार की विधियों की परीक्षा हो चुकी है और सब प्रकार की विधियाँ फ़ेल हो चुकी हैं, इसलिए अब सिवा इस भारतीय त्यागवाद के और कोई दूसरी विधि ऐसी नहीं प्रतीत होती जो मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और तृण-पल्लव को एकसमान लाभदायक होकर लोक-परलोक के सच्चे सुखों को प्राप्त करानेवाली हो सके। यही कारण है कि हमने इस पुस्तक में आर्यसभ्यता के त्यागवाद का विस्तृत वर्णन किया है।

हमने इस पुस्तक के उपक्रम में दिखलाया है कि इस समय यूरोप में वर्त्तमान भौतिकवाद से हताश होकर एक नवीन सभ्यता—नेचरवाद का उपक्रम हो रहा है, परन्तु उसमें उस सभ्यता को स्थिर रखने की शक्ति नहीं है, क्योंकि वह सभ्यता मनुष्यों को नेचर के अधीन हो जाने का परामर्श देती है और अपनी बुद्धि और विचार को काम में लाने की आज्ञा नहीं देती। इस सभ्यता के प्रचारकों का यह विश्वास है कि आरम्भकाल में मनुष्य अत्यन्त सुखी था और उसकी सुख-शान्ति का कारण उसका नैसर्गिक व्यवहार ही था, ज्ञान-विज्ञान नहीं, किन्तु हम देखते हैं कि ज्ञान-विज्ञान के छोड़ने से मनुष्य जंगली हो जाता है और अपनी तथा अपनी सभ्यता की रक्षा नहीं कर सकता, अतएव नेचरवाद की सभ्यता किसी अंश में अच्छी होती हुई भी अपने अन्दर चिरस्थायी रहने की शक्ति नहीं रखती, इसलिए यह सभ्यता त्रुटिपूर्ण है। इस सभ्यता की त्रुटियाँ तब तक दूर नहीं हो सकतीं जब तक वैदिक आर्यसभ्यता का अनुकरण न किया जाए। नेचरवादियों के अनुसार आरम्भ में मनुष्य अधिक सुखी और शान्त था, किन्तु हम देखते हैं कि उस सुख-शान्ति का कारण नैसर्गिक जीवन न था, प्रत्युत आदिम मनुष्यों की सुख-शान्ति का कारण वैदिक शिक्षा ही थी जो मनुष्योत्पत्ति के साथ-ही-साथ परमेश्वर की ओर से दी गई थी।

इस वैदिक शिक्षा की दीर्घकालीनता और प्राचीनता को हमने प्रथम खण्ड में दिखलाया है और बतलाया है कि वेदों की सभ्यता मिस्र आदि देशों की समस्त सभ्यताओं से अत्यन्त प्राचीन है और आदिमकालीन है। जो लोग वेदों के शब्दों से इतिहास निकालकर और ज्योतिष् के सिद्धान्तों का वर्णन निकालकर वेदों का उत्पत्तिकाल निश्चित करते हैं, वे ग़लती पर हैं। वेदों से वेदों का समय नहीं निकाला जा सकता। वेदों का समय तो आर्यों के प्राचीन इतिहास से ही निकल सकता है और वह समय वैवस्वत मनु तक जा पहुँचता है, जो मनुष्योत्पत्ति का ही समय है।

वेदों की आदिमकालीनता पर प्रकाश डालने के बाद हमने द्वितीय खण्ड में आदिम ज्ञान और आदिम भाषा का पता लगाने के लिए विकासवाद की आलोचना की है। विकासवाद के समस्त अङ्ग-उपाङ्गों की विस्तृत समालोचना से ज्ञात होता है कि आदिम ज्ञान और आदिम भाषा अपौरुषेय, अर्थात् ईश्वरप्रदत्त ही होती है और आदिम ज्ञान और आदिम भाषा ही अपभ्रष्ट होकर नाना रूपों में दिखलाई पड़ती है। अपभ्रंश सदैव विस्तार से संकोच की ओर और क्लिष्टता से सरलता की ओर दौड़ते हैं, अतः इस नियम से पाया जाता है कि वैदिक भाषा की वर्णमाला संसार की समस्त वर्णमालाओं से विस्तृत और क्लिष्ट है, इसलिए वह किसी का अपभ्रंश नहीं हो सकती, प्रत्युत वह अपौरुषेय सिद्ध होती है। इसी प्रकार उस सार्थक भाषा द्वारा प्रेरित ज्ञान ही वेदज्ञान है और वह भी अपौरुषेय ही है।

वेदों की अपौरुषेयता पर प्रकाश डालने के बाद हमने भारतीय आर्यों की वर्त्तमान अवनति का कारण तृतीय खण्ड में बतलाया है। हमने ऐतिहासिक प्रमाणों से यह दिखलाने का यत्न किया है कि

कारणवश कुछ आर्यों में प्रमाद उत्पन्न हुआ और अनाचार की प्रवृत्ति हुई। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए विशुद्ध आर्यों ने प्रमादी अनाचारियों को अपने से पृथक् कर दिया। ये पृथक् किये हुए पतित आर्य भारतवर्ष से चलकर अनेक देशों में बस गये और बहुत दिन तक भिन्न-भिन्न देशों और परिस्थितियों में रहने के कारण रूप और विश्वासों में यहाँ के आर्यों से विलक्षण बन गये तथा समय-समय पर प्रसङ्गानुसार यहाँ वापस आकर फिर बस गये और आर्यों में सम्मिलित हो गये। इस सम्मेलन से आर्यों के विश्वास विदेशियों में और विदेशियों के विश्वास तथा रीति-रिवाज आर्यों में संक्रमित हुए, जिसके कारण आर्यों की वैदिक सभ्यता में अन्तर पैदा हो गया और वही अन्तर भारतीय आर्यों के पतन का कारण बना। आर्यों के साहित्य में आर्य और अनार्य दोनों प्रकार के सिद्धान्त विद्यमान हैं, जो हमारी इस बात को पुष्ट करते हैं।

इतना सब-कुछ लिखने के बाद चतुर्थ खण्ड में हमने आर्यों की उस त्यागवाद की सभ्यता का उज्ज्वल स्वरूप दिखलाया है जो परमात्मा की ओर से आदि सृष्टि में वेदों के द्वारा आदिमकालीन मनुष्यों को मिली थी। हमारा विश्वास है कि आर्यों ने उस सभ्यता के भवन को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की आधारशिलाओं पर स्थिर किया है और उसे वर्णाश्रम की सुदृढ़ शृङ्खला से कसकर बाँध दिया है। इस सभ्यता के अनुसार व्यवहार करने से लोक-परलोक से सम्बन्ध रखनेवाली मनुष्य को जितनी इच्छाएँ हैं, सबकी पूर्ति हो जाती है और किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, प्रत्युत एक ऐसा सुदृढ़ राजमार्ग बन जाता है कि मनुष्यसमाज अपनी इस सभ्यता की रक्षा करते हुए सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करता है तथा अन्य समस्त प्राणी भी अपनी पूर्ण आयु जीने की सुविधा प्राप्त करते हैं।

इसके बाद उपसंहार में हमने बतलाया है कि आर्यों के समस्त आर्यसाहित्य और आर्यव्यवहार से एक स्वर के साथ यही आवाज़ निकलती है कि वैदिक आर्यसभ्यता का आदर्श मोक्ष को केन्द्र मानकर लोक में समस्त प्राणियों के दीर्घजीवन का प्रबन्ध करके सबसे सबको सुख पहुँचाने की ओर ले-जाता है और अपनी इस सभ्यता को चिरंजीवी रखने की शक्ति प्रदान करके एक ऐसा राजमार्ग बना देता है कि जिसपर चलने से समस्त प्राणी दीर्घातिदीर्घजीवन—मोक्ष को सरलता से पहुँच सकते हैं। यही इस ग्रन्थ का सारांश है और यही इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों का क्रम है।

अनेक लोग कहते हैं कि जिस महत्त्वपूर्ण विचार को लेकर इतना बड़ा ग्रन्थ लिखा गया है और जिस रीति-नीति, आचार-व्यवहार और रहन-सहन के अनुसार समस्त मनुष्यसमाज को अपना जीवन बनाने की अभिलाषा प्रकट की गई है उस रीति-नीति में भी कई त्रुटियाँ हैं। एक तो इसमें बार-बार ईश्वर, धर्म, वेद और मोक्ष की बातें कही गई हैं, जो बिलकुल ही समय के विपरीत हैं। इन बातों का अब महत्त्व नहीं है। इन बातों को यूरोप के विद्वानों ने अपने मस्तिष्क से निकाल दिया है, इसलिए अब इनकी पुनः प्रतिष्ठा नहीं हो सकती और न वह सभ्यता ही चल सकती है, जिसमें इस प्रकार की अप्रत्यक्ष बातों को महत्त्व दिया गया हो। दूसरी त्रुटि इसमें यह है कि संसार के प्रायः सभी मनुष्य अपने धर्म, अपने रीति-रिवाज और अपनी पुरानी सभ्यता के पक्षपाती होते हैं, इसलिए संसारभर की सभी जातियाँ अपनी पुरानी सभ्यता का मोह छोड़कर वेद के नाम से न तो वैदिक ही हो सकती हैं और न अपने को आर्य ही कह सकती हैं। तीसरी त्रुटि इसमें यह है कि इस व्यवस्था के अनुसार देश में दरिद्रता के फैल जाने का भय है। एक तो देश वैसे ही बहुत ग़रीब है, दूसरे इस प्रकार के विचारों के प्रचार से और भी अधिक आलस्य और दरिद्रता के फैल जाने का डर है। चौथी त्रुटि यह है कि यह व्यवस्था मनुष्यस्वभाव के भी विरुद्ध है, क्योंकि मनुष्य सदैव शोभा-शृङ्गार, ठाट-बाट और बनाव-चुनाव को ही पसन्द करता है, परन्तु इस व्यवस्था में अस्वाभाविक रहन-सहन का वर्णन किया गया है, इसलिए इसका प्रचार सर्वसाधारण में नहीं हो सकता। पाँचवीं त्रुटि यह है कि जिस वेद और आर्ष साहित्य के अनुसार वैदिक सम्पत्ति का संकलन किया गया है उस वेद और आर्ष साहित्य के माननेवाले भारतवासी

पण्डित इस निष्पत्ति पर कभी सहमत न होंगे कि वेद-शास्त्रों का जो कुछ अभिप्राय वैदिक सम्पत्ति में निकाला गया है, वही सत्य है और उसमें भूल नहीं है। ऐसी दशा में—इतनी त्रुटियों के होते हुए कैसे विश्वास किया जा सकता है कि इस व्यवस्था का समस्त संसार में प्रचार करने से सबको लाभ ही होगा ?

इन उपर्युक्त शंकाओं में जो त्रुटियों की बात कही गई है, वह निर्मूल है। इस वैदिक व्यवस्था में एक भी त्रुटि नहीं है। ये तो शंकाएँ हैं जिनका समाधान यद्यपि इस ग्रन्थ के आद्योपान्त पढ़ने से आप-ही-आप हो जाएगा तथापि हम यहाँ भी साधारण रीति से इनका समाधान करना आवश्यक समझते हैं। प्रथम शंका में जो लोग कहते हैं कि इसमें ईश्वर, धर्म, वेद और मोक्ष की बात बार-बार कही गई है, परन्तु इन बातों को समझदार लोग छोड़ रहे हैं, इसलिए इस व्यवस्था का लोगों पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता और दूसरी शंका में जो लोग कहते हैं कि संसार के सभी लोग अपने पुराने धर्म, रीति और सभ्यता के पक्षपाती होते हैं, अतः सभी लोग अपनी प्राचीनता का मोह छोड़कर वैदिक आर्य नहीं बन सकते, वे दोनों ग़लती पर हैं और दोनों एक-दूसरे का खण्डन करते हैं यदि संसार के समझदार मनुष्य ईश्वर, धर्म और मोक्ष जैसे प्रभावशाली विषयों को छोड़ रहे हैं तो पुराने धर्म, रीति और सभ्यता का मोह देर तक कैसे रह सकता है ? जो बातें उपयोगी नहीं हैं, चाहे प्राचीन हों अथवा नवीन हों, न तो वे अब देर तक रह सकती हैं और न उन्हें रहना ही चाहिए, परन्तु वैदिक सम्पत्ति में जिस ईश्वर, धर्म, वेद और मोक्ष का वर्णन किया गया है वह निरुपयोगी नहीं प्रत्युत अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि बिना उसके स्वीकार किये संसार की आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विषयों की जटिल समस्याएँ हल ही नहीं हो सकतीं। बिना ईश्वर के माने, बिना ईश्वर-प्राप्ति का उपाय किये और बिना सदाचार का अनुष्ठान किये मनुष्य में समता, दया और प्रेम के भाव जाग्रत् ही नहीं हो सकते और न बिना इन भावों के संसार की व्यवस्था ही हो सकती है, इसलिए वैदिक सम्पत्ति में बार-बार ईश्वर, धर्म और मोक्ष आदि का वर्णन निरर्थक नहीं है। रही बात सबके वैदिक आर्य हो जाने की वह कोई आवश्यक बात नहीं है। वैदिक व्यवस्था में यह आवश्यक नहीं है कि कोई किसी सभ्यता का दास हो जाए। वैदिक सभ्यता के अनुसार तो केवल व्यवहार ही करना आवश्यक है, चेला होना नहीं, क्योंकि यह कोई सम्प्रदाय नहीं है। इसमें तो फलाहार करना, सादे वस्त्र पहनना, सादे मकानों में रहना, थोड़ी-सी आवश्यक गृहस्थी रखना, पशु पालना, वाटिका लगाने में ही श्रम करना, ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करके एक-दो सन्तान उत्पन्न करना और रात-दिन परमात्मा के गुणगान गाते हुए मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी को दुःख न देना तथा सतानेवाले आततायी बर्बरों को दण्ड के द्वारा और सभ्य शत्रुओं को अपने आचरण और आत्मिक बल के द्वारा परास्त करके अपनी और अपने समाज की रक्षा करना ही बतलाया गया है, इसलिए यह किसी भी सम्प्रदाय, जाति, क़ौम और समाज के प्रतिकूल नहीं है। जितने सभ्य सम्प्रदाय हैं, जितनी सभ्य जातियाँ हैं और जितनी सभ्य समाजें हैं—सभी में ये सिद्धान्त स्वीकार किये जा सकते हैं। कौन ऐसा पतित समाज होगा जो उपर्युक्त बातों को ख़राब कहेगा, इसलिए इस व्यवस्था से किसी की भी सभ्यता के ह्रास या नाश का डर नहीं है।

तीसरी यह शंका कि इस प्रकार की बातों के प्रचार से देश में आलस्य और दरिद्रता के बढ़ने का भय है तथा चौथी यह शंका कि इस प्रकार की दरिद्रता का रहन-सहन मनुष्यस्वभाव के विपरीत है, एक ही शंका के दो रूप हैं। जो लोग सीधे-सादे रहन-सहन के साथ नहीं रहना चाहते वही इस व्यवस्था को दरिद्रता फैलानेवाली भी कहते हैं और बहाना करते हैं कि यह रहन-सहन अस्वाभाविक है। वे नहीं सोचते कि यदि यह रहन-सहन अस्वाभाविक होता तो बच्चा नग्न पैदा न होता, प्रत्युत जामा-पगड़ी पहने हुए ही उत्पन्न होता और साथ में एक मोटर और एक पंखाकुली भी लाता, परन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य का बच्चा पैदा होते ही शौक़ीन नहीं बन जाता। वह तो नग्न रहकर मिट्टी में ही खेलना पसन्द करता है। वह यदि इस प्रचलित भौतिक आडम्बर को न देखे तो जीवनभर कभी इस

प्रकार के पदार्थों का नाम ही न ले और न कभी स्वप्न में भी उनकी ओर आकर्षित ही हो। जंगलों में करोड़ों आदमी रहते हैं, परन्तु वे इन बातों की कल्पना कभी स्वप्न में भी नहीं करते। बड़े-बड़े धनवान् और बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी इन भौतिक पदार्थों से घबराकर इनको लात मारकर और लँगोटी लगाकर जंगलों में भाग जाते हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सादा रहन-सहन अस्वाभाविक है। रही दरिद्रता बढ़ाने की बात तो संसार में अधिक जनसंख्या सदैव दरिद्रों, अर्थात् साधारण लोगों की ही रही है और रहेगी। इसका कारण यही है कि धनाढ्यता बढ़ानेवाली भौतिक सामग्री सबके पास पहुँच ही नहीं सकती, क्योंकि संसार में शोभा-शृंगार, ठाठ-बाट, बनाव-चुनाव और आमोद-प्रमोद के बढ़ानेवाले इतने पदार्थ हैं ही नहीं जो सारी जनता को बाँटे जा सकें। हीरा, मोती, सोना, चाँदी, रेशम, हाथीदाँत और ऐसे ही अन्य मूल्यवान् पदार्थ संसार में बहुत ही थोड़े हैं। ऐसी दशा में संसार के समस्त मूल्यवान् पदार्थों को अपने ही घर में जमा करने की उन्हीं को सूझती है जो ग़रीबी-अमीरी के दो भयङ्कर विभागों को सदैव बनाये रखना चाहते हैं, परन्तु अब वह समय नहीं रहा। अब तो वह समय आ गया है कि जहाँ तक हो सके शीघ्र-से-शीघ्र ग़रीबी और अमीरी के विभागों को हटा दिया जाए और सीधे-सादे, रहन-सहन के साथ सबको एक समान आर्थिक लाभ पहुँचाने की व्यवस्था की जाए। सादी और समान आर्थिक व्यवस्था से न कोई अमीर कहा जा सकता है न ग़रीब, प्रत्युत सभी अपने को अमीर ही समझ सकते हैं, इसलिए इस व्यवस्था में अस्वाभाविकता और दरिद्रता के प्रचार का दोष नहीं लग सकता।

अब रही बात पाँचवीं शंका में बतलाये हुए वेद के माननेवालों की। वेद के माननेवाले इस समय अनेक सम्प्रदायों में विभक्त हैं। तृतीय खण्ड में सम्प्रदायों का इतिहास लिखते हुए हमने आर्यों से अनार्यों की उत्पत्ति, आर्यों-अनार्यों का विरोध, लड़ाई और त्याग तथा पुनः सम्मिश्रण और आर्यशास्त्रविध्वंस का साद्यन्त वर्णन किर दिया है और बतला दिया है कि सम्मिश्रण के ही कारण आर्यों में मद्य, मांस, व्यभिचार, शृङ्गार, कला और शृङ्गारिक व्यापार की प्रवृत्ति हुई और सब विलासी होकर निर्बल हो गये। फल यह हुआ कि इनकी कारीगरी, व्यापार और धन के लालच से प्रेरित होकर विदेशियों ने धावा किया और भारतदेश पराधीन हो गया तथा आर्यजाति का हर प्रकार से पतन हुआ। इस इतिहास से स्पष्ट सूचित होता है कि आर्यों के साहित्य में जो भौतिक उन्नति-सम्बन्धी और अनाचार-सम्बन्धी विचार मिलते हैं, वे दोनों आर्यों की मौलिक सभ्यता के नहीं हैं, प्रत्युत मिश्रित सभ्यता के हैं। आर्यों की मौलिक सभ्यता के समय न तो भव्य नगरों, न रेल, तार, मोटर आदि यानों और न भौतिक शस्त्रास्त्रों का ही व्यवहार था और न मद्य, मांस, पशुयज्ञ, लिङ्गपूजन आदि आसुरी प्रवृत्तियों का ही प्रचार था। इन दोनों प्रकार के उत्पातों का आर्यों की आदिम वैदिक सभ्यता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों प्रकार की बातें अनेक जातियों के मिश्रण का ही फल हैं। यही कारण है कि आर्यों की एक भी पुस्तक ऐसी नहीं है जिसमें आसुरी भावों का मिश्रण न हो। जो लोग वेदों और अन्य आर्यसाहित्य से रेल, मोटर, बिजली की रोशनी का वर्णन निकालकर यूरोप की वर्त्तमान भौतिक उन्नति के साथ मेल मिलाते हैं, वे ग़लती करते हैं, क्योंकि यजुर्वेद ४०। ९ में स्पष्ट लिखा है कि जो प्रकृति के कार्य अथवा कारण की उपासना करते हैं वे दोनों सत्यानाश को प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार जो लोग वाममार्ग की ऊलजलूल बातों को अथवा इसी प्रकार की अन्य बुद्धिविपरीत लीलाओं को वैदिक आर्यसभ्यता समझते हैं, वे भी ग़लती पर ही हैं। आर्यसभ्यता का उज्ज्वल स्वरूप तो आश्रमों में ही दिखलाई पड़ता है, जहाँ आर्यों का ३/४ भाग सादा और तपस्वी जीवन के साथ विचरता है और १/४ भाग उसी ३/४ भाग की सेवा में लगा रहता है। इसी प्रकार आर्यसभ्यता का आपत्कालिक रूप वर्णों में दिखलाई पड़ता है, जो आपत्ति के समय शिक्षा, रक्षा, जीविका और कारीगरी के द्वारा सेवा करके अपने समाज की रक्षा करता है। यही वास्तविक आर्यसभ्यता है। इसका यदि उज्ज्वल रूप देखना हो तो वह केवल वेदों की संहिताओं में ही दिखलाई पड़ सकता है, किसी लौकिक साहित्य अथवा

लौकिक साहित्य से प्रभावित किसी वेदभाष्य में नहीं, इसलिए सम्प्रदायों का चश्मा उतारकर उस वर्णाश्रमव्यवस्था का जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष में ओत-प्रोत है निरीक्षण करने से ही ज्ञात हो सकता है कि आर्यों की वास्तविक सभ्यता क्या है ? आर्यों की असली सभ्यता के नमूने उपनिषदों में श्रेय और प्रेय का वर्णन करते हुए और गीता में दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति का वर्णन करते हुए स्पष्ट कर दिये गये हैं, अतएव हमने उसी श्रेय और दैवी सम्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली वास्तविक आर्यसभ्यता का स्वरूप इस पुस्तक में दिखलाया है। ऐसी दशा में यह न तो आर्यसमाज से विरोध रखती है, न सनातनधर्म से, न हिन्दुओं से, न मुसलमानों से, न ईसाइयों से, न पारसियों से और न जैनों से, न बौद्धों से। यह सभ्यता तो मनुष्यमात्र की है और मनुष्यमात्र को एक समान ही लाभ पहुँचानेवाली है। यही कारण है कि इसमें स्थिरता का गुण विद्यमान है। यह अपने इस स्थिर गुण के कारण ही लाखों वर्ष तक अपने वास्तविक रूप में रह चुकी है और आगे भी यह अपने शुद्धरूप के साथ सदा रह सकती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

आर्यसभ्यता का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने के लिए ही हमें इस ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में कई जातियों का इतिहास लिखना पड़ा है और कई स्थानों पर अपने आचार्यों, पूज्यों और मित्रों के मत की आलोचना भी करनी पड़ी है, जिसके लिए हमें दुःख है। हमारा कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं है कि संसार की कोई भी जाति, चाहे वह द्रविड़ हो या चितपावन, मुसलमान हो या ईसाई और पारसी हो या बौद्ध, वास्तविक मौलिक आर्यों के ख़ून से सम्बन्ध नहीं रखती। हम संसारभर के मनुष्यों को आर्यों के ही वंशज समझते हैं। इसी प्रकार हमारा यह भी विचार नहीं है कि आर्यों के साहित्य को केवल द्रविड़ों, चितपावनों, मुसलमानों और ईसाइयों ने ही दूषित किया है और उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी ब्राह्मणों, क्षत्रियों और अन्यों ने नहीं, प्रत्युत हमारा यह विश्वास है कि जिस प्रकार उपर्युक्त जातियों ने आर्यों के साहित्य को बिगाड़ा है उसी प्रकार अन्य जातियों ने भी बिगाड़ा है। यह बात हमने तृतीय खण्ड में ही लिख भी दी है, परन्तु स्मरण रहे कि हमने जो कुछ लिखा है वह किसी को बदनाम करने या नीचा दिखलाने के लिए नहीं लिखा, प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से केवल वैदिक आर्यसभ्यता का वास्तविक स्वरूप दिखलाने के लिए ही लिखा है, इसलिए हम उन महानुभावों के समक्ष क्षमा के प्रार्थी हैं जो हमारी समालोचना से असन्तुष्ट हों। इसी प्रकार हम अपने पूज्यों और मित्रों से भी क्षमा-प्रार्थना करते हैं, जिनके मत की आलोचना हमने विवश होकर की है।

इसके सिवा हमको यह बात अच्छी प्रकार ज्ञात है कि वैदिक राजमार्ग में जमाई हुई जिन दुर्गम और दुर्गेय शिलाओं को काटकर हमने प्राचीन मौलिक आर्यों के घण्टापथ को विस्तृत किया है उन सिद्धान्तरूपी शिलाओं से प्रभावित हुए विद्वानों की दृष्टि में हमने अनेक शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को न समझा होगा, परन्तु इसमें हमें कुछ भी असमञ्जस नहीं है। हम ख़ूब जानते हैं कि शास्त्रों का मत समझने में हमसे ग़लती हुई होगी, किन्तु इतना हमें विश्वास है कि हमने आर्यसाहित्य और आर्यसभ्यता के अनुशीलन से आर्यों के वास्तविक उद्देश्य और वास्तविक आचार-व्यवहार को स्पष्ट करने में ग़लती नहीं की। यदि यह सत्य हो तो यह बात निर्विवाद है कि हमने उसी उद्देश्य और उसी रहन-सहन के प्रचारार्थ यह पुस्तक लिखी है, शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को समझाने के लिए नहीं। यही कारण है कि इस पुस्तक में प्रायः वेदों के ही सिद्धान्त लिये गये हैं और साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रों के सिद्धान्तों पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। वेदों के सिद्धान्त-संग्रह करने में भी वेदभाष्यों से बहुत ही कम सहायता ली गई है, क्योंकि वेदों के भाष्य भी साम्प्रदायिक रंग में ही रंगे हुए हैं और मनमानी कल्पनाओं से परिपूर्ण हैं। हमारा तो विश्वास है कि मत-मतान्तरों और साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का चश्मा लगाकर कोई विद्वान् कभी भी वेदों की वास्तविक शिक्षा तक पहुँच ही नहीं सकता, इसलिए हम साम्प्रदायिक और शास्त्रज्ञ विद्वानों से भी क्षमा की याचना करते हैं और निवेदन करते हैं कि वे केवल हमारे शुद्ध उद्देश्य को ही देखें और अपने मन में जमे हुए भावों के वशीभूत होकर इसमें अपने

उद्देश्यों को ढूँढने का कष्ट न उठावें।

हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर कुछ लोग वेदों से भौतिक विज्ञान और यूरोपिय ढंग की बातें निकालते हैं, वहाँ दूसरी ओर कुछ लोग पशुहिंसा, मद्यपान, व्यभिचार, अश्लील पूजन और ऐसी ही अन्य अनेक ऊलजलूल और बुद्धिविपरीत साम्प्रदायिक बातें निकालते हैं। तीसरी ओर से यह भी आवाज़ आती है कि वेदों में वर्त्तमान समयोपयोगी बातों का बिलकुल ही अभाव है। ये लोग कहते हैं कि इस समय पाश्चात्य विज्ञान ने जो उन्नति की है और विद्वानों ने जितना ज्ञान संग्रह किया है उसको देखते हुए वेदों में कुछ भी उन्नत विचार नहीं पाये जाते, इसलिए वेदों के पीछे पड़ना और उनके अध्ययन-अध्यापन में समय नष्ट करना उचित नहीं है। जहाँ तक हमारा अनुभव है, हम देखते हैं कि इस तीसरे दल की बातों का प्रभाव देश के साधारण लोगों पर तो पड़ा ही है, साथ ही बड़े-से-बड़े नेता भी इन बातों के प्रभाव से नहीं बचे। यही कारण है कि हिन्दूधर्म को मानते हुए भी वेदों के पठन-पाठन का, वैदिक विज्ञान के विचार का और वैदिक व्यवस्था के प्रचार का सारे भारतवर्ष में कहीं पर भी—किसी भी पाठशाला, गुरुकुल, ऋषिकुल और विश्वविद्यालय में—प्रबन्ध नहीं है। इन संस्थाओं के संचालकों को वेदों में समयोपयोगी शिक्षा की कोई भी विधि दिखलाई नहीं पड़ती। कुछ तो उनमें रेल-तार का वर्णन न पाकर हताश हो गये हैं, कुछ साम्प्रदायिक बातों को न देखकर चुप्पी साध गये हैं और कुछ यह समझकर उपेक्षा कर बैठे हैं कि वेदों में वर्त्तमान युग के अनुकूल शिक्षा नहीं है तथा यूरोप से समयोपयोगी शिक्षा मिल रही है, इसलिए वेदों में सिर मारने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु हम बलपूर्वक कहते हैं कि वेदों की ही शिक्षा इस समय में भी समयोपयोगी है, यूरोप की नहीं। वेदों में जो समयोपयोगी शिक्षा का अभाव दिखलाई पड़ता है उसका कारण वेद नहीं, किन्तु वेदों के भाष्यकार हैं। वेदों के अधिकांश भाष्यकारों ने वेदों से वेदों की वास्तविक शिक्षा के प्राप्त करने का यत्न नहीं किया, प्रत्युत उन्होंने वेदों से बलात् उन बातों के निकालने का यत्न किया है जो उनको प्रिय थीं, जिनमें उनका मनोरञ्जन था और जिनसे वे प्रभावित थे। यही कारण है कि लोगों को वेदों के वास्तविक स्वरूप का दर्शन नहीं हो पाता। बहुत दिन से देशी और विदेशी सभी भाष्यकार वेदों को चक्कर में डाले हुए हैं। ऐसी दशा में लोगों की जो वेदों से उपेक्षा दिखलाई पड़ती है वह स्वाभाविक ही है, परन्तु हम देखते हैं कि अब समय फिरा है, संसार में वेदानुकूल वायुमण्डल तैयार होने लगा है और अब एक प्रकार से संसार स्वयं वेदों की वास्तविक शिक्षा की ओर आने लगा है, इसलिए हमने वेदों की वास्तविक शिक्षा को ही संसार के सामने उपस्थित करने का यत्न किया है, अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाने का नहीं। हम नहीं जानते कि हमें इसमें कहाँ तक सफलता हुई है, परन्तु इतना तो हम कह सकते हैं कि जब हम जैसे वैदिक ज्ञान-विहीन क्षुद्र व्यक्ति भी वेदों से एक सार्वभौम योजना की सामग्री प्राप्त कर सकते हैं तब वे विद्वान् जो ज्ञान-विज्ञान, भाषाशास्त्र, इतिहास, धर्म और राजनीति के ज्ञाता हैं, यदि वेदों का स्वाध्याय करें तो वेदों से बहुत कुछ लोकोपयोगी शिक्षा का पता लगा सकते हैं, यह हमारा दृढ़ विश्वास है। यही कारण है कि हमने इस ग्रन्थ में मुख्य विषय को चतुर्थ खण्ड में और प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में वेदों की महत्ता का ही वर्णन किया है। इस वर्णनक्रम का यही प्रयोजन है कि लोगों को अच्छी प्रकार विदित हो जाए कि वेद आदिमकालीन हैं, अपौरुषेय हैं, अतएव उनमें जो सार्वभौम शिक्षा दी गई है वह निर्भ्रान्त है और संसार के समस्त मनुष्यों के लिए उपयोगी तथा प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है।

हम मानते हैं कि जिन विषयों का समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है उनपर ग्रन्थ लिखने की योग्यता हममें नहीं है। हम तो ऐसे विषयों की ओर संकेत करने के भी अधिकारी नहीं हैं, इसलिए हमें उचित न था कि हम ऐसे महान् विषयों पर लेखनी उठाते, परन्तु हम देखते हैं कि आज पचास-साठ वर्ष से इस देश में धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक चर्चा हो रही है और इन सभी चर्चाओं में इस ग्रन्थ से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी बातों की आवश्यकता भी पड़ती है, परन्तु जहाँ तक हमें ज्ञात

है आज तक किसी ने समस्त बातों का सामञ्जस्य करके कोई ग्रन्थ तो क्या चार लाइनें भी लिखने की कृपा नहीं की। जिन बातों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है क्या बिना उनपर प्रकाश डाले, बिना उनको समझे और बिना उनका समाधान किये कोई भी धर्म, कोई भी समाज और कोई भी राष्ट्र किसी प्रकार की पक्की, स्थिर और सुखदायी व्यवस्था कर सकता है ? कभी नहीं ! कदापि नहीं !! ऐसी दशा में ग्रन्थ नहीं, केवल एक प्रकार की विषयसूची उपस्थित करके यदि हमने विद्वानों के सामने धृष्टता की है तो यह कहने में हानि नहीं कि हमारी यह मूढसेवा क्षमा के योग्य है।

हमारा विश्वास है कि जब तक भारतीय विद्वान् हमारी इन सूचनाओं पर यथोचित ध्यान न देंगे, इस पुस्तक में दिये हुए समस्त विषयों पर अच्छा प्रकाश न डालेंगे और उन समस्त वैज्ञानिक, सामाजिक और राजनैतिक मार्गों में न घूम लेंगे जिनकी आर्य वैदिक सभ्यता के प्रचार में आवश्यकता पड़ना सम्भव है तब तक संसार की सभ्य जातियों में वैदिक आर्यसभ्यता का प्रचार नहीं हो सकता और न संसार की जटिल समस्याओं की उलझन ही सुलझ सकती है, इसलिए यद्यपि यह सूची परिपूर्ण नहीं कही जा सकती तथापि त्याज्य और उपेक्ष्य भी नहीं है, यही हमारी विनय और प्रार्थना है।

हमने इस ग्रन्थ के उपयोगी और आवश्यक भागों को अठारह बीस वर्ष पूर्व लिखा था और 'अक्षरविज्ञान' नामी अपनी एक पुस्तक में इसकी चर्चा भी कर दी थी, परन्तु छपाकर प्रकाशित नहीं किया था। इसका कारण यही था कि हम अपनी कमज़ोरियों को समझते थे, परन्तु जिस समय अक्षरविज्ञान छपकर बाहर निकला तो उसकी प्रशंसा कई पूज्य विद्वानों ने की। कई पत्र और पत्रिकाओं ने उसपर लेख लिखे। उर्दू, अंग्रेज़ी और बँगला में उसके अनुवाद हुए और हमारी स्वीकृति भी माँगी गई। भारतवर्ष का इतिहास, सृष्टिविज्ञान, वृक्षों में जीव और पुनर्जन्म आदि पुस्तकों में कहीं सूचनाएँ और कहीं उद्धरण दिये गये और दो-एक संस्थाओं ने उपाधियों के भेजने की भी कृपा की। ऐसी दशा में हमारे लिए बहक जाना और यह विचार करना स्वाभाविक था कि जिस सामग्री को हमने बीस वर्ष से संग्रह कर रक्खा है उसको सुव्यवस्थित रूप में सबके सामने उपस्थित करना अच्छा है। सम्भव है उसमें कुछ सत्यांश भी हो और उससे संसार को लाभ पहुँचे, अथवा भूल ज्ञात होने पर हमारा ही भ्रम संशोधित हो जाए। बस, इसी शुद्ध प्रेरणा ने हमसे इस ग्रन्थ को लिखवाया है, इसलिए भी हम क्षमा के ही योग्य हैं।

हमने इस ग्रन्थ के लिखने में अनेक ग्रन्थों, पत्रों, पत्रिकाओं, व्याख्यानों, शास्त्रार्थों और प्रासंगिक वार्त्तालापों से सहायता प्राप्त की है, इसलिए हम उन सभी ग्रन्थकारों, पत्रकारों व्याख्यानदाताओं और सत्संगी महानुभावों के कृतज्ञ हैं। सबसे अधिक कृतज्ञ हम मुम्बई निवासी सेठ श्री शूरजी वल्लभदास वर्मा के हैं, जिनकी सहायता से हम इस ग्रन्थ के लिखने और छपाने में समर्थ हो सके हैं। अन्त में हम समस्त ग्रन्थकारों, पत्रकारों, व्याख्यानदाताओं और वाद-विवाद करनेवाले धार्मिक और राजनैतिक विद्वानों से सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वे इस ग्रन्थ की त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर केवल इसके सिद्धान्तों की प्रचारात्मक आलोचना करें, जिससे शीघ्र ही इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कई उत्तम ग्रन्थ योग्य विद्वानों की लेखनी से लिखे जाएँ और परमात्मा की अतुल दया से इस वैदिक व्यवस्था का संसार में शीघ्र प्रचार हो जाए, यही हमारी अन्तरेच्छा है। इत्योम् शम्।

निवेदक—
रघुनन्दन शर्मा

कानपुर,
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा संवत् १९८७

विषय सूची

—o—

प्रकाशकीय

पण्डित श्री रघुनन्दनजी शर्मा आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के विचारक-चिन्तक, मनीषी थे। प्रस्तुत ग्रन्थ ''वैदिक सम्पत्ति'' मननशील पाठकों की सम्पत्ति है जो मानसिक रूप से मालामाल करती है। इसके तन्मयतापूर्वक सम्पूर्ण अध्ययन-मनन के पश्चात् आदरास्पद लेखक के श्रम व उसकी ऊहा का ज्ञान होता है। जन-कल्याणार्थ लगभग बीस वर्ष की तपस्या से प्राप्त यह नवनीत हमारे चिन्तक मन को दिशा देने का सार्थक प्रयास है। देव दयानन्द के पथानुगामी जब तक वेदमार्ग पर चलते रहेंगे तब तक ज्ञानप्रकाश सर्वसुलभ रहेगा ही। जनकल्याण की भावना में स्वकल्याण अन्तर्निहित है।

इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण आर्यश्रेष्ठी श्री शूरजी वल्लभदास व श्री प्रतापसिंहजी शूरजी के सत्प्रयासों से सुधी पाठकों को प्राप्त होते रहे हैं। अन्यान्य जनों ने भी इसके प्रचार-प्रसार में अपना योगदान दिया है। हम श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट की ओर से इसे आधुनिक तकनीक द्वारा प्रकाशित करके अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहे हैं। इसका प्रकाशन हमारे मार्गदर्शक, महर्षि दयानन्द की भावनाओं के प्रखर संवाहक पूज्य स्वामी श्री जगदीश्वरानन्दजी सरस्वती की स्नेहिल कृपा का प्रसाद है। इस युग में इस कोटि का त्यागी-निर्लोभी व सत्यान्वेषी संन्यासी हमारा कृपालु है, यह हमारे लिए ऊर्जा का स्रोत व उत्साह का कारण है। इस पुस्तक के नैगेटिव स्वामीजी ने हमें निःशुल्क उपलब्ध करवाये हैं। इस कारण यह पुस्तक हम कम मूल्य पर दे पाने में सक्षम हो पा रहे हैं।

विद्वानों के सम्मानार्थ व पाठकों के लाभार्थ नित्य साहित्य आता रहे, इसके लिए हमने एक योजना प्रारम्भ की है, जिसके अन्तर्गत आर्षग्रन्थों पर लेखन-कार्य करनेवाले लेखकों को सम्मानित कर उस साहित्य का ट्रस्ट द्वारा प्रकाशन किया जाएगा। ट्रस्ट की हितकारी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत हम अब तक सन्ध्यापद्धतिमीमांसा—पृष्ठ ३५०; जाति-निर्णय—पृष्ठ ३४०; त्रिदेव-निर्णय—पृष्ठ २०८; आदर्श नित्यकर्म विधि—पृष्ठ १७६; वैदिक-विनय—पृष्ठ ४२४; यजुर्वेदभाष्य प्रथम खण्ड—पृष्ठ ६२०; मीरपुरी सर्वस्व—पृष्ठ ४३२ और अब वैदिक सम्पत्ति—पृष्ठ ७५० क्रमशः पैंतीस, चालीस, पच्चीस, पन्द्रह, तीस, अस्सी, पैंतालीस व पिचहत्तर रुपये में दे रहे हैं। हम आपके सहयोग द्वारा देव दयानन्द की वेदोक्त विचारधारा के प्रचार-प्रसार का यह साहित्य-यज्ञ कर पा रहे हैं। आशा है भविष्य में भी आपका आत्मना सहयोग हमारा दिशानिर्देश करता रहेगा।

—प्रभाकरदेव आर्य

ओ३म्

वैदिक सम्पत्ति

उपक्रम

संसार के सभी मनुष्य सुख-शान्ति चाहते हैं, और उसे प्राप्त करने के लिए अपनी परिस्थिति के अनुसार कभी भौतिक और कभी आध्यात्मिक साधनों के द्वारा प्रयत्न भी करते हैं, परन्तु उनकी सुख-शान्ति का आदर्श वही होता है जिससे वे प्रभावित होते हैं और उसी प्रकार के ही प्रयत्नों का अनुकरण करते हैं जिस प्रकार के प्रयत्न करते हुए वे अपने को प्रभावशाली देखते हैं। इस समय समस्त संसार यूरोप से प्रभावित है और सबने उसी को अपना आदर्श मान लिया है। यही कारण है कि वर्त्तमान यूरोपीय सभ्यता ने समस्त पृथिवी की प्राचीन सभ्यताओं को बदल दिया है और जहाँ तक भौतिक उन्नति तथा बाहरी बनाव-चुनाव का सम्बन्ध है सारा संसार एक विशाल यूरोप बन रहा है*।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि यूरोप अपनी इस भौतिक उन्नति से स्वयं सन्तुष्ट है। वह सन्तुष्ट नहीं है, प्रत्युत इस भौतिक उन्नति से उत्पन्न विलास, रोग, स्पर्धा और युद्धों ने उसे भयभीत कर दिया है, अतएव अब वह इससे त्राण चाहता है और सच्चे सुख-शान्ति की खोज करता हुआ मनुष्य की प्रारम्भिक, अर्थात् आदिमकालीन अवस्था तक पहुँचा है। अब वहाँ के विद्वानों की प्रवृत्ति का झुकाव दिन-प्रतिदिन मनुष्य के आरम्भिक रहन-सहन की ओर ही बढ़ रहा है। वे अब मनुष्य के आहार, विहार, समाज, शासन और शादी-विवाह के जो उदाहरण देते हैं, वे प्रायः आदिमकालीन ही होते हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य की आदिमकालीन दशा ही उत्तम थी। इधर हमारे देश के ऋषि-मुनियों ने भी आरम्भिक रहन-सहन को ही उत्तम माना है और उसी के अनुसार समस्त मनुष्यों को अपना जीवन बनाने का आदेश भी किया है। ऐसी दशा में जबकि प्राचीन और नवीन विचारों की एकता का उपक्रम हो रहा है, तब हमने भी नवीन विचारों से इस पुस्तक का उपक्रम और प्राचीन विचारों से उपसंहार करने का निश्चय किया है। आशा है इस उपक्रम-उपसंहार से संसार को वास्तविक सुख-शान्ति के पहचानने और प्राप्त करने में सहायता मिलेगी, क्योंकि देखा जाता है कि मनुष्य का मस्तिष्क न बिगड़ा हो और उसे किसी ने बहकाया न हो तो वह सदैव वास्तविक सुख-शान्ति की ही इच्छा करता है। वह रात-दिन विद्या, धन, समाजसुधार और राष्ट्रनिर्माण आदि साधनों के द्वारा वास्तविक सुख-शान्ति का ही उपाय किया करता है और लक्ष्य तथा प्रयत्न के अनुसार फल भी प्राप्त करता है, किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि वह शान्ति क्रियाहीनता का चिह्न है। जो अकर्मण्य हैं, आलसी हैं, निस्तेज और भीरु हैं, प्रायः वही शान्ति-शान्ति की चिल्लाहट करते हैं। पुरुषार्थी, कर्मनिष्ठ और

---

* The modern European type of civilisation is being diffused over the whole earth, superseding or essentially modifying the older local types. The world is in fact becoming an enlarged Europe so far as the externals of life and the material side of civilisation are concerned.

—*Harmsworth, History of the World, Vol. I, p. 53.*

जीवनयुक्त मनुष्य कभी शान्ति नहीं चाहते, क्योंकि शान्ति से बल और बुद्धि दोनों में बाधा उपस्थित होने का डर रहता है, किन्तु अशान्ति से—जीवन-संग्राम से मनुष्य सदैव विजय प्राप्त करने के लिए—जीने के लिए बल और बुद्धि दोनों में उन्नति करता है और इस उन्नति से संसार के समस्त उच्चतम विज्ञानों की प्राप्ति होती है, इसलिए मनुष्य के जीवन में शान्ति का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

यद्यपि सुनने में ये बातें बड़ी मधुर प्रतीत होती हैं। ज्ञात होता है कि कोई बड़ा तत्त्वदर्शी बड़े मर्म और मार्के की बातें कर रहा है, परन्तु तनिक-सा सोचकर केवल एक ही प्रश्न और आगे बढ़ाने से इस आडम्बरयुक्त वाक्यसमूह की क़लई खुल जाती है। जब पूछा जाता है कि अशान्ति से उत्पन्न हुए बल और बुद्धि से मनुष्य को क्या लाभ होगा और वह विज्ञान जो अशान्ति से उत्पन्न हुआ है और अशान्ति की ही वृद्धि करता है मनुष्य के जीवन में किस अवसर पर काम आएगा तो कुछ भी उत्तर नहीं बनता। ऐसी दशा में यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि अब तक लोगों ने वास्तविक सुख-शान्ति को अच्छी प्रकार समझा ही नहीं, अतएव हम यह आवश्यक समझते हैं कि सबसे प्रथम यह समझने का यत्न करें कि वास्तविक शान्ति क्या है, क्योंकि लोगों ने मान रक्खा है कि शान्ति का तात्पर्य आलस्य और क्रियाहीनता है। लोग समझते हैं कि शान्ति चाहनेवाले रोगी, दुर्बल, मूर्ख, निकम्मे और भाग्य पर रोनेवाले होते हैं। न उनके घर खाने का ठिकाना होता है, न उनके बाल-बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध होता है और न उनका कोई समाज होता है, न राष्ट्र होता है। बड़ी गड़बड़ तो यह होती है कि जिस किसी ने उनको चार लातें मारीं, उनका घर-बार छीन लिया और अपनी दासता में नियुक्त कर दिया, परन्तु हम बलपूर्वक कहते हैं कि ये लक्षण वास्तविक शान्ति चाहनेवालों के नहीं हैं।

शान्ति चाहनेवालों का कार्यक्रम

वास्तविक शान्ति चाहनेवालों का तो नक़्शा और कार्यक्रम ही भिन्न है। वे निकम्मे नहीं होते प्रत्युत पुरुषार्थी, बलवान्, विद्वान् और बुद्धिमान् होते हैं। वे नीरोग, सुन्दर और पुष्ट होते हैं। वे दयालु और सदाचारी होते हैं। वे कलहरहित होते हैं। वे मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, पल्लव, कीट-पतङ्ग सभी को सुरक्षित और सुखी देखना चाहते हैं। वे प्रकृति के दास नहीं, किन्तु प्रकृति को अपने वश में रखनेवाले होते हैं। राज्यव्यवस्था, यज्ञानुष्ठान और समाधि-साधन आदि महापुरुषार्थ के काम सदैव उनके सामने रहते हैं। विद्याध्ययन के लिए उनके पास शिक्षा की बहुत-सी शाखाएँ भी उपस्थित रहती हैं और ज्ञान-विज्ञान की अन्तिम सीमा तक पहुँचने के लिए उस परमात्मा की प्राप्ति का महान् लक्ष्य सदैव उनके सामने रहता है जिसके जान लेने पर फिर कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं रहती। शान्ति चाहनेवालों की वास्तविक शान्ति का यही आदर्श है। इस प्रकार की शान्ति आलसियों, अकर्मण्यों और भीरुओं की नहीं, प्रत्युत महापुरुषार्थियों की है*।

इस शान्ति का वास्तविक अभिप्राय है ईर्ष्या-द्वेष, कलह और लड़ाई आदि की निवृत्ति, रोग, दोष, दुःख-दारिद्र्य की समाप्ति, पशु-पक्षियों के करुणक्रन्दन का अन्त और वृक्षों पर चलती हुई कुल्हाड़ी की रोक तथा समस्त संसार को एक राष्ट्र के नीचे लाकर धर्मपूर्वक साम्यभाव से

* अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः। —सांख्यदर्शन १।१

सबको सबसे सुख पहुँचाने का स्वर्गीय प्रबन्ध। यही शान्ति चाहनेवालों का अन्तिम ध्येय है। जो लोग लड़ाई-झगड़े, स्वार्थ और कुटिलता से मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग को दुःखी बनाकर स्वयं कृत्रिम, अस्वाभाविक और काल्पनिक बल-बुद्धि का स्वप्न देखना चाहते हैं उनका वह अशान्ति से उत्पन्न हुआ बल और विज्ञान स्वप्नसम्पत्ति ही है, वास्तविक नहीं—यथार्थ नहीं। इसका प्रमाण हमें प्रत्यक्ष मिल रहा है। हम देख रहे हैं कि वर्त्तमान वैज्ञानिक संसार धीरे-धीरे शारीरिक और मानसिक बल खोता जाता है। उसके शरीर से वह शक्ति हटती जाती है जो कठिन कामों को करने के लिए उत्साह दिलाती है। इसका कारण यही है कि वैज्ञानिक उन्नति यन्त्रों का आविष्कार करके शारीरिक श्रमों में कमी उत्पन्न कर देती है और यन्त्राश्रित मनुष्यों के शरीर निर्बल हो जाते हैं।

शारीरिक निर्बलता के साथ हृदय भी निर्बल हो जाता है और हृदय की निर्बलता के कारण मस्तिष्क स्थिर नहीं रहता। फल यह होता है कि मनुष्य भीरु, अर्थात् डरपोक बन जाता है। जब तक उसके पास बन्दूक़ रहती है तभी तक वह शेर रहता है, परन्तु बन्दूक़ के छूटते ही—बन्दूक़ का मसाला समाप्त होते ही—अथवा अधिक मार की दूसरी बन्दूक़ के सामने आते ही उसके देवता कूच कर जाते हैं और वह घबराकर आत्मसमर्पण कर देता है। यही कारण है कि भाला, तलवार अथवा और ऐसे ही सादे हथियारों की लड़ाई में वैज्ञानिक लड़ाई लड़नेवाले सैनिक खड़े नहीं रह सकते। जिस प्रकार वैज्ञानिक शस्त्रों के द्वारा यह सैनिक भीरुता उत्पन्न होती है उसी प्रकार अन्य प्रकार के यन्त्रों द्वारा अन्य अनेक प्रकार की भीरुताएँ भी उत्पन्न होती हैं। पैदल चलनेवाले भारतीय ग्रामीण साहस के साथ सैकड़ों कोस का पैदल रास्ता तय करते हैं, परन्तु मोटर पर चढ़नेवाले यन्त्राश्रित मनुष्य पंक्चर हो जाने पर घबरा जाते हैं और चार मील भी नहीं चल पाते। इसी से कहते हैं कि भौतिक उन्नति के द्वारा वास्तविक बल-बुद्धि का विकास नहीं होता, प्रत्युत ह्रास ही होता है और भीरुता बढ़ती है।

विद्वानों का कहना है कि भीरुता एक प्रकार की पशुता है, क्योंकि देखा जाता है कि जितने हिंस्र पशु दूसरों को मारते या काटते हैं वे भीरुता के ही कारण मारते-काटते हैं। वे मारे डर के ही विश्वास खो देते हैं और बिना कारण पहले ही से दूसरों के मारने की घात लगाते हैं। यही अवस्था भीरु मनुष्यों की भी है। वे भी मारे डर के किसी का विश्वास नहीं करते और बिना कारण सारी दुनिया को असमर्थ बनाकर मार डालने का उपाय किया करते हैं। इसका फल यह होता है कि इनकी इस स्वार्थबुद्धि से उत्पन्न हुई शारीरिक और मानसिक निर्बलता उनके शरीर की बनावट पर बहुत ही बुरा प्रभाव करती है। इस प्रभाव से उनके चेहरे कुरूप हो जाते हैं, आँखों से मधुरता जाती रहती है और मुख-मण्डल से सौम्यभाव चला जाता है। आजकल यूरोपनिवासियों के चेहरे इसी ढंग के हो गये हैं, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि उनको अपने इस पतन की ख़बर नहीं है। वे नहीं जानते कि उनका किस प्रकार पतन हो रहा है। उनको ख़बर नहीं है कि किस प्रकार उनमें कुरूपता और भयङ्करता बढ़ रही है, किस प्रकार बुद्धि में पाशवतत्त्व प्रविष्ट हो रहे हैं और किस प्रकार वे चेतनजगत् से दूर होते जाते हैं, उन्हें नहीं सूझता कि रेल, मोटर, मिलइञ्जन और इसी प्रकार के अन्य समस्त भौतिक पदार्थों के संस्कार उनको कहाँ लिये जा रहे हैं।

इसी प्रकार उन्हें नहीं सूझता कि रात-दिन असमर्थ मनुष्यों को सताना और पशु-पक्षियों को मार-मारकर खाना उन्हें किस गहरे गर्त की ओर ढकेल रहा है। एक ओर वे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चेतनजगत् का नाश करने में लगे हैं और दूसरी ओर भौतिक पदार्थों के मोह में

जड़जगत् की उपासना कर रहे हैं, ऐसी दशा में वे चेतनजगत् से कितना दूर होते जाते हैं यह उन्हें नहीं सूझता। उनकी भौतिक प्रवृत्ति से यही प्रतीत होता है कि न उनका कोई पशु है, न पक्षी; जो है वह मारकर खाने के लिए ही है। इसी प्रकार न उनका कोई इष्ट-मित्र है, न नौकर-चाकर। जो है वह अपना स्वार्थ साधन करने के लिए अथवा अपना काम कराने के लिए। इसी प्रकार न उनकी कोई पत्नी है, न सन्तान। पत्नी है पशुवृत्ति की निवृत्ति के लिए और सन्तान है युद्धों में लड़कर दूसरों का सर्वस्व छीनने के लिए।

इस प्रकार चेतनजगत् से उनका जो थोड़ा-बहुत सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है वह भी उस चेतनांश को हानि पहुँचाने के लिए ही है। इसपर से सहज ही अनुमान कर लेना चाहिए कि जड़वादियों की भौतिक उन्नति ने उनको किस प्रकार भीरु बनाकर चेतनजगत् का विरोधी बना दिया है और किस प्रकार उनसे संसार का अनिष्ट हो रहा है, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि चेतनजगत् परमात्मा का समीपी प्यारा मित्र है, उसको जितना ही सताया जाता है उतना ही उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और जितना ही क्षोभ उत्पन्न होता है, उतना ही लौटकर वह सतानेवालों का अपकार करता है। आज संसार में जो अशान्ति हो रही है—कलह, लड़ाई, बीमारी और दुष्काल हो रहे हैं—इन सबका कारण उक्त चेतनक्षोभ ही है, इसीलिए इस जड़-उपासना और चेतन-अवहेलना की इस बढ़ती हुई बाढ़ से अब सहृदय पुरुष घबराने लगे हैं। यूरोप देश ही से इस बाढ़ का प्रारम्भ हुआ है और वहीं पर इसके ताड़नेवाले भी उत्पन्न हो गये हैं। यही कारण है कि वहाँ के विद्वानों ने इस भौतिक उन्नति की अनिष्टता पर प्रकाश डालने के लिए अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे हैं। उन्हीं में से जर्मननिवासी एडॉल्फ़ जस्ट (Adolf Just) नामी विद्वान् की 'रिटर्न टु नेचर' (Return to Nature) नामी पुस्तक से हम कुछ उद्धरण उद्धृत करके दिखलाते हैं कि किस प्रकार अब यूरोप के विद्वान् भौतिक उन्नति से घबराते हैं और किस प्रकार वे मनुष्य की आरम्भिक रहन-सहन की खोज कर रहे हैं। उद्धरणों के भावार्थ मूल में और ज्यों-के-त्यों वाक्य पादटिप्पणी में हैं।

दुःखों के कारण

१. आरम्भ में मनुष्य रोग, दोष, दुःख-दारिद्र्य से मुक्त था। न वह पापी था, न रोगी। वह विशुद्ध था और ईश्वरीय तेज उसमें विद्यमान था।

२. वह स्वयं अपने अपराध से, स्वच्छन्दता और आज्ञाभंग से पतित हुआ और संसार का स्वर्गीय सुख खो बैठा।

३. उसने स्वयं अपनी योग्यता और उन्नति से न राज्य किया और न शासन; परन्तु अपराधों की वृद्धि की, जिससे रोग-दोष, दुःख-दरिद्रता ने आ घेरा, विषय-वासना से उत्पन्न हुई दासता से सारी दुर्गति हो गई।

---

1. It must be admitted that man, the pure image of God, was in the beginning without sin and sickness, trouble and misery.
2. Through his own fault, through misuse of his liberty and his intellect, through disobedience to God, in short through sin, man has lost the Paradise of pure, unalloyed happiness. —Introduction.
3. The self-development and the abilities of man are but weak. The great conquests of civilisation are not ruling and mastering but only subjection to sin, sickness, heat, cold, hurry and restlessness, constantly increasing desire for luxury, pleasure, ambition and the delusion of greatness a sad state of slavery. —p. 298.

४. वर्त्तमान वैज्ञानिक अन्वेषण ने जीवित पशुओं के शरीर काट-काटकर आँख, कान, हृदय, पेट आदि को निकाला। इन बेदर्द अपराधों के लिए वर्त्तमान विज्ञान उत्तरदायी है।

५. विज्ञान बेदम है। भूकम्प आने के पहले पशु-पक्षी भाग जाते हैं, परन्तु मनुष्य को पता नहीं लगता। एक बार विज्ञानवादियों का कमीशन भी कुछ पता न पा सका और भूकम्प आ गया।

६. बीमारी पाप है। यदि संसार में पाप न हों, तो बीमारी भी न हो। यह मानी हुई बात है कि मानसिक विकार—स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, अनुदारता और क्रोध आदि का भयंकर प्रभाव शरीर पर पड़ता है।

७. मनुष्य के पापों का प्रभाव समस्त प्रकृति को दूषित कर देता है। मनुष्य ने उन्नति के नाम से प्रकृति को बिगाड़ दिया है। जंगलों को काटकर, वायु को दुर्गन्धित करके और शिकार खेलकर सृष्टि को अस्वाभाविक बना दिया है।

८. संसार में समस्त मनुष्य अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित हैं, पागलपन बढ़ रहा है और आत्महत्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यदि भौतिक विज्ञान की उन्नति एकदम बन्द कर दी जाए, तो फिर परमेश्वर सहायता करे।

९. क्या कभी किसी ने विचार किया है कि हम क्यों जीते हैं, हमारे जीवन का क्या उद्देश्य है, हम क्यों मरते हैं, संसार का मुख्य प्रयोजन क्या है और परलोक क्या है?

---

4. At the present time scientific investigation are carried out upon living animals by cutting open the body to observe the working of the internal organs, or by taking out the eyes, removing the tongue or the stomach or the liver and subsequently replacing them. Science is guilty here of fearful cruelties, which cry to Heaven. —p. 328.
5. Some years ago when the great calamity was about to happen on the Island of Martinigue, the wild animals felt the sense of disaster a fortnight before it took place and the domestic animals were restless for some days. The inhabitants instituted a scientific commission. This reported the evening before that there was no danger and that people might go to bed in peace. But a few hours later the terrible disaster occurred. Almost the whole of the town was destroyed, the scientific commission perished but the animals were all saved.
When the great earthquake was about to take place in San Fransisco, the dogs ran howling from the town days before. The men, suspecting nothing and knowing nothing, remained to be buried under the ruins of their houses. —p. 17.
6. Sickness is the consequence of sin. If there had been no sin there could be no sickness, and if sin were banished from the world there would be no more sickness. It must be distinctly recognised that all spiritual status, selfishness, pride, hatred, envy, incharitableness, anger, passion have a disadvantageous influence on the body. —p. 26.
7. The error and the pestilential vapour of human sin, pride, selfishness, immorality and strife have been thrust by force into the remotest part of the natural world. Man has everywhere damaged Nature in his false struggle for progress. Take for example the rooting up of forests, the pollution of air, hunting etc. —p. 19.
8. Everywhere on the earth we behold sickness and ill-health in a thousand shapes. From the cradle to the grave men are afflicted with pain and suffering of every kind. Vice and passion, sin and crime are strangely prevalent among mankind. Nerve-trouble is widely spread amonng us.
We find men generally sunk in care and trouble, in sin and misery, in unhappiness and dispair. Never before were the lunatic asylums so full and suicide is becoming more common every day. —p. 19.
I am well content, however, if for the first time the jubilation over the achievements of science is broken, and if the veil, torn the first time, discloses a delusive Hell, God will then help further. —p. 299.
9. We must ever ask in the most earnst manner for whom do we live, why do we live, why do we die? What is the right aim for this world and the next? It is possible in the case of all earthly ideals to be for a long time in error and to pass over Heaven, the real goal of life. —p. 314.

१०. कला–कौशल और व्यापार ने अपना एक नया ही मोड़ ले–लिया है। नवीन आविष्कारों ने संसार को उलट दिया है। मनुष्य की दौड़–धूप इतनी बढ़ गई है कि उसे हम चिन्ताजनक अशान्ति कह सकते हैं। व्यापार ने संसार में एक लड़ाई कर दी है, जैसी आज तक कभी नहीं हुई। व्यापारी रेलों, साइकलों और मोटरों के द्वारा शहर–शहर, पहाड़–पहाड़ और दरिया–दरिया मारे फिरते हैं। जहाँ ये साधन काम नहीं देते वहाँ वायुयानों द्वारा जाते हैं। इनको कहीं सुख नहीं। कौन ऐसा व्यापारी है, जो रोगी और अशक्त नहीं। स्नायु–पीड़ा पृथिवी का नरक ही है।

११. प्रकृति और सभ्यता दोनों परस्पर विरोधी हैं, जो कभी एक नहीं हो सकते। प्राचीन काल में मिस्र, बेबिलोनिया, फिनीशिया, यूनान और रोम आदि ने सभ्यता का विस्तार किया, परन्तु आज उनका कहीं पता नहीं है। आज अनेक श्रमजीवी, कारखानों के धूएँ और भयङ्कर यन्त्रों से अपना आरोग्य और स्वतन्त्रता खो रहे हैं।

१२. ऊँची जातियों, अधिकारीयों और पूँजीपतियों ने अपनी शक्ति से निर्बल जातियों को कुचल डाला है। मानसिक पाप से प्रकृति पर धक्का लगता है। जंगलों के काटने, हवा और पानी के बिगाड़ने से भीतर–ही–भीतर प्रकृति में विकृति उत्पन्न हो जाती है।

१३. यदि मनुष्य के लिए पृथिवी पर चलने की अपेक्षा हवा में उड़ना उत्तम होता तो उसके पङ्ख अवश्य होते।

---

10. Industry and trade have taken on a character of their own. The latest inventions and achievements have turned the world upside down. It can absolutely be said that distance has been annihilated. In this an incredible activity has come into the world of business. It is not so much activity a fearful restlessness and hurry.

    With this constantly increasing eagerness, businessmen enter more and more into the most violent competitive warfare. Thus the business-world has kindled a mutual war of extermination such as history never recorded.

    When the business people need relaxation they travel.They ride round the world in a wild chase by railway, or bicycle, or motor from a town to another, from a lake to another, from a range of mountain to another and this is called rest. When the railway and motor do not go far enough they take ships on the great oceans or mount into the air on a dirigible balloon. But where do they settle to rest? No where. —p. 315.

    Where there is a business-man who is not in ill health, who does not suffer from nerves? But we have seen that nervous malady is nothing but a Hell upon Earth.
11. Once more I repeat that nature and civilisation are opposites which can not but reconciled. —p. 305.

    The civilised pagan, nations of antiquity, the Phoenicians, the Egyptians, the Babylonians, the Greeks and the Romans all came to grief in turn. They reached a certain height and then fell, by slow or rapid steps. It is always 'growth blossoming decay'. —p. 306.

    Most people work day by day, and year by year, with scarcely any interruption, in subterranean passages, in evil-smelling factories, in dangerous empolyment and they exhaust themselves with nerve-shattering mental work to mantain life and enable themselves to endure it. Yes, in the struggle for existence, health, freedom and happiness are often sacrificed. —p. 307.
12. I am willing to admit that the upper classes, the ruling authorities, the men of property, the capitalists have too often used their power to plunder and oppress the lower classes. —p. 323.

    The sinful spiritual direction in man moves even in direct attacks on nature such as the uprooting of the forests, the vitiating of the air and the water, has transformed itself into action and goes over further and further into unnatural ways. —p. 339.
13. If flying through the air were better for man, for his pleasure or intercourse than walking on the earth, He could surely have given him wings. —p. 302

१४. बहुत-से लोगों का विचार है कि मनुष्य प्रकृति की ओर नहीं लौट सकता। वह बुद्धिबल से प्रकृति को पहुँच जाएगा, किन्तु पता नहीं ये लोग बुद्धिबल किसे कहते हैं। मनुष्य तो प्रकृति को छोड़कर बुद्धिवाद में चला गया। अब वह बुद्धिवाद के द्वारा प्रकृति में कैसे आ सकता है ? यह मनुष्य को कभी सुखी, नीरोग और मृत्युञ्जय नहीं बना सकती।

१५. सभ्यता ने इसके पूर्व ऐसी उन्नति कभी नहीं की। इसका भी प्रत्याघात होगा जो या तो इस सभ्यता को नष्ट कर देगा या प्रकृति और परमेश्वर तक पहुँचाएगा।

१६. मनुष्य प्रकृति को अपना दास बनाकर सुख चाहता है, परन्तु वह इस मार्ग से दुःखों की ही ओर जा रहा है, क्योंकि उसने ईश्वरीय सृष्टि-नियमों का भंग किया है।

१७. डारविन के विकासवाद से उच्छृंखलता बढ़ी है और मनुष्यजाति की बड़ी हानि हुई है। इस सिद्धान्त से मनुष्य का मान-सम्मान बहुत ही कम हो गया है।

१८. भौतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त में बड़ा अन्तर है, दोनों परस्पर विरोधी हैं।

१९. जीवन-संग्राम धीरे-धीरे कम हो जाएगा, परन्तु यह तब तक नष्ट न होगा जब तक भौतिक उन्नति का नाश न हो जाए और आध्यात्मिक जीवन फिर से आरम्भ न हो।

२०. जिसे पुनः ईश्वर-प्राप्ति पर विश्वास होता है वह भौतिक उन्नति के तङ्ग मार्ग से निकलकर परमेश्वर के प्रकाशमय मार्ग में आता है। यही सच्चा विज्ञान है। ऐसा करने से पुनर्जीवन तथा बल की वृद्धि होती है और अन्त में उसका मोक्ष हो जाता है। इसलिए लौटो-लौटो—प्रकृति की ओर लौटो और नीचे लिखे व्यवहारों से बर्तो तभी परमेश्वर तुमपर प्रसन्न होगा और बिगड़ा काम बन जाएगा।

---

14. Some maintain, in a dubious and uncertain fashion that mankind should not return to nature, but arrive at nature by intellectual culture. What these people call intellectual, is ordinarily very unintellectual. Men left nature and went over to culture. How should he come to nature through culture? It never made a man happy, it never freed him from sin, sickness, care and the agony of death.
15. Civilisation has never before reached such a height and it calls for an extraordinary reaction. One must believe either in a vast catastrophe for the civilesed nations or in reaction in a return of mankind to God and Nature. —p. 388.
16. In civilisation man leaves the path indicated to him by God and oversteps the limits assigned by Nature. Man seeks to make Nature his servant and tries thus to attain the highest happiness, but he can by this road attain only the opposite, sickness, pain, weakness, misery. Here, however, the delusion is a great one.
17. Darwinism, which teaches the descent of man from monkeys, gave a great impetus to the free thinking and materialism of the present day. This theory has been the cause of much evil and unhappiness. To a certain degree man lost respect for himself. —p. 292.
18. We must make a distinction between the spiritual world of God and the material world of man. These two worlds are entirely opposites.
19. The struggle for existance, as it is called, will gradually become milder and will disappear, but it will not entirely cease until this material world is resolved into nothing and there exists again only a pure spiritual world, a world of love, of undisturbed peace and happiness. —p. 20.
20. The man who believes is again united to God, he is illuminated from within, he comes more and more to true and glorious knowledge, he looks beyond the narrow bounderies of the material world and finaly partakes of God's omniscience. This is the science, this is the divine science. In the same measure as he does this, his powers awake and grow, the bonds of matter are rent asaunder, sickness and other hinderances diminish till at the last day he enters into divine omnipotence.

दुःखों से छूटने के उपाय

१. मनुष्य फलाहारी है। मेवा और फल उसके लिए महान् लाभकारी हैं। उसके पचानेवाले यन्त्रों की बनावट फल पचाने के लिए है। फलाहार से ताज़गी और शक्ति मिलती है। दूध, दही और मक्खन खाना उत्तम है।

२. यदि लोग फलों के लिए फलोत्पन्न करनेवाले बग़ीचे लगाने शुरू कर दें, तो परिश्रम करने के लिए उत्तम अवसर हाथ लग जाए और बहुत-सी भूमि अधिक फलोत्पन्न करने के लिए निकल आये। शराब और तम्बाकू उत्पन्न करने के लिए व्यर्थ ही भूमि का बहुत-सा भाग रोका गया है। इसी प्रकार अन्य बहुत-से अनावश्यक पदार्थ भी उत्पन्न करके भूमि रोकी गई है। बग़ीचों से तथा उनमें काम करने से आरोग्य और आनन्द मिलता है। शुद्ध वायु, प्राकृतिक दृश्य और पशु-पक्षियों के विहार से मन प्रसन्न होता है। अनेक प्रकार के अन्य व्यायामों से बग़ीचे का श्रम बहुत ही लाभदायक है।

३. यद्यपि हम हमेशा नङ्गे नहीं रह सकते, तो भी शरीर का बहुत बड़ा भाग खुला रह सकता है। खुले पैर बिना जूता पहने घर में और बाहर फिरना बहुत ही लाभकारी है। स्त्री और पुरुष दोनों को चाहिए कि नङ्गे सिर घूमने का स्वभाव बनाएँ। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे

---

1. But we know that according to the order of Nature, man is a fruit-eater. In undisturbed Nature man ate originally nothing but fruit. —p. 105.
   Uncooked milk and even sour milk can be taken and butter too can be eaten. —p. 109.
   The body becomes, as it were, new in course of time under this diet of nuts and fruit, it becomes full of freshness, elasticity and strength. —p. 115.
   Man, as I have said often enough, is essentially a fruit eater. Nuts, berries, roots, orchard fruit are his proper food according to the order of Nature. The human digestive organs are adapted in all their details for fruit alone, and it is consequently only fruit which is absolutely and entirely digested. —p. 114.
2. For a long time we should not require to use the whole extent of the land. If people were more, or entirely supported by horticulture and fruit-raising, much of the present torment and other evils would come to an end. Much space would be gained for planting of forests, animals would be less required for labour, much cruelty to animals would cease. Every thing wanted would again grow for men of itself, and how healthy then would be the condition of man, and how human happiness would be increased by it. —p. 338.
   I have to point out again and again many strips by the wayside, how many patches of the ground are unused and unplanted and how many fields and gardens are still planted with things which are not necessary for the support of the human life, or which even conduce to unhappiness, bringing only sickness and misery such as tobacco growing, wine growing, cattle raising, etc. How beautiful and beneficial is even holding labour in fruit-raising and horticulture, when carried out in the right spirit. —p. 357.
   Fruit raising can, as I have said, soon make such a piece of ground pay, and it can bring happiness in every way. In an arena of this kind, it would be possible to practise going barefoot, light and air-bath etc., besides bodily labour.
   Life would thus become a perfect ideal. Animal in the naturl state would approach such homesteads with renewed confidence, birds would build their nests there and sing their gay songs. —p. 359.
3. We cannot always go naked, but particular parts of the body should be unclothed as much as possible. Going barefoot both in the house and out of doors is to be highly recommended. —p. 59.
   I believe there is scarcely anything more ridiculous and pitiful than our fools of fashion, male and female, they are the lowest slaves that have ever existed. —p. 66.

पुरुष और स्त्रीवर्ग दोनों इस कमबख़्त फैशन की दयाजनक दासता में फँस गये हैं। फ़िजूलख़र्ची से न तो अपने बाल-बच्चों का ही सुधार कर सकते हैं और न इष्ट-मित्रों की सेवा ही हो सकती है।

४. सोने के लिए तो घास और लकड़ी के बने सादे झोंपड़े ही उत्तम हैं। ये झोंपड़े खुली वायु में जहाँ सघन वृक्षावली और पर्याप्त प्रकाश मिलता हो बनाने चाहिएँ। भूमि पर कोमल घास बिछाकर अथवा रेतीली मिट्टी (बालू) बिछाकर सोना उत्तम है। मिट्टी के स्नान से दाह और अन्य पुराने रोग भी शान्त हो जाते हैं।

५. बिजली की रोशनी आँख के लिए महा हानिकारक है।

६. ऊँचे और बड़े मकानों से सदैव भूकम्प में दबकर मर जाने का भय रहता है। जिन देशों में यह सभ्यता नहीं पहुँची वहाँ लोग अब तक झोपड़ों में ही रहते हैं और भूकम्प से दुखी नहीं होते। बड़े मकान शहरों में होते हैं, अत: नगरों और क़स्बों से अपना स्थान तुरन्त ही हटा लेना चाहिए। मनुष्य का असल स्थान तो जंगल है। शहरों में तो बीमारी और अशान्ति का ही साम्राज्य है।

७. जहाँ जंगल न हों वहाँ बड़े-बड़े बग़ीचे लगाकर थोड़े दिन में जंगल बना लेने चाहिएँ। मनुष्य जब फिर फल खाने लगेगा तो बग़ीचों से जंगल हो जाँएगे, जहाँ पशुओं का चारा होगा और मनुष्य के लिए फल उत्पन्न होंगे।

८. विषय-भोग तभी होना चाहिए, जब प्रकृति आज्ञा दे।

९. हम जितना ही प्रकृति की ओर बढ़ते जाएँ उतने ही अंश में प्राकृतिक विज्ञान और कला से हटते जाना चाहिए, बिना ऐसा किये हम सत्य स्थान पर नहीं पहुँच सकते।

१०. कातना, बुनना, सीना और अन्य गृहस्थी के आवश्यक पदार्थ सब घर में ही तैयार कर लेने चाहिएँ। विलास की वस्तुएँ और साजसामान एकदम हटा देने चाहिएँ। घर, बाग़ और खेतों

Both men and women would do well to revert to the habit of going about bareheaded. —p. 73.
People would then be more willing to renounce the extravagant pleasure of civilisation and the world with its expensive dress. They could get for their children beautiful and happy position of independance and free life, and could also do good service to acquaintances and freinds.—p. 359.

4. It is very good to sleep in wooden huts or cottages built, if possible, only of wood (root of straw) and placed out of doors in pure air, best of all under forest trees. Plentiful light and air should be allowed to enter freely at all times. —p. 61.
Earth baths reduce the heat even in cases of chronic malodies. —p. 89.
5. The electric light is more convenient but it is bad for eyes. —p. 74.
6. If mankind did not live in houses what danger would there be in earthquake? None at all. It is well known that on certain islands the natives never fall victims to earthquake while the civilised immigrants have often met their deaths in their comfortable dwellings and splended mansions. —p. 18.
It is principally necessary that men should withdraw from the big town, the hot bed of all that is unnatural, of all diseases and all destructions. In the forest man finds his original home. --p. 360.
7. More forest, too, must be planted in the course of time. When mankind is again fed on fruit and garden-produce, corn growing and cattle raising will cease and there will be plenty of land available for the new plantation. —p. 301.
8. In pure Nature we ever find chastity, in pure Nature the intercourse of the sexes only takes place at fixed times when the voice of Nature requires it. At other times there is no sexual desire, and all contact of a sexual nature is repelled with decision. —p. 223.
9. In the same measure as we lay stress on Nature and faith we must deny art and science in principle. If we do not, we shall never reach the true goal. —p. 290.
10. The simple labours of the household, of the field, the garden, and the orchard, if performed in the right spirit with humility, with conscientiousness and unselfishness, are very beneficial both to health and happiness. —p. 321.

के काम से नीरोगता और प्रसन्नता बढ़ती है। उन्हें हम जितना ही अपनाएँगे, उतने ही सुखी होंगे।

११. यह मानी हुई बात है कि सादगी ही सत्यता का चिह्न है।

१२. पशुओं का पालन अच्छी प्रकार से करना चाहिए, क्योंकि उनसे सवारी, बोझ उठाना, और खेती-सम्बन्धी अनेक काम लिये जाते हैं। पशुओं को ताज़ा, शुद्ध चारा देना चाहिए। जिन घोड़ों को घास की बजाय दाना अधिक दिया जाता है, वे बीमार हो जाते हैं, परन्तु जिन बैलों को हरी घास दी जाती है, वे नीरोग रहते हैं। घोड़े की पूँछ आदि भी नहीं काटनी चाहिए।

१३. कृत्रिम खाद्य से उत्पन्न किया गया अन्न रोगी होता है। यहाँ (विलायत) के बावरची विदेशी गेहूँ को अधिक पसन्द करते हैं। गन्दी खाद्य से उत्पन्न अन्न को तो पशु भी पसन्द नहीं करते। यही हाल कृत्रिम फलों का भी समझना चाहिए।

१४. इस प्रकार यदि मनुष्य जड़ प्रकृति का मोह छोड़कर परमात्मा की ओर फिरे, तो स्वयमेव सामाजिक असमानता मिट जाए और परिश्रम में सबको बराबरी देखने को मिले। मनुष्य शुद्ध हो जाए, नीरोग हो जाए, बलवान् और प्रतिभावान् हो जाए। संसार से वैर, द्वेष, ईर्ष्या चली जाए और एकबारगी हिंसा विदा हो जाए। भेड़िया भेड़ के साथ, चीता बकरी के साथ और

There should again be spinning, weaving, sewing and other work of a practical kind, so as to make at home all clothes and other things necessary for the family. —p. 322.

In reality there are many matters, many kinds of clothes, many kinds of food, of houses, furniture etc. which are neither necessary nor useful. —p. 318.

11. It is well known that simplicity is the sign of truth. —p. 152.

12. Animals are in constant use in agricultural work. Man has certain duties towards animals, he should take pity on the animals, he uses in his servises. —p. 232.

At the present time it is sought to give artificial strength to horses by immoderate feeding with oats. The horse is by this means exposed to diseases of different forms. The oxen, which are fed on green food and hay, are free from diseases. Horses can only be made healthy again by turning them out to grass and feeding them on green food, hay, carrots etc. Think of the horse of the steppes which eat nothing but grass, how healthy, strong, enduring and beautiful they are. —p. 334.

The cutting of the horse's tail should be done away with in every case. —p.336.

13. Through the unnatural manuring the produce of the fields becomes, it is true, richer in amount but it is not nearly so good in quility.

It is well-known that foreign corn grown without artificial manure, is better and more wholesome than that grown at home. Bakers always prefer foreign wheat. The beast will not touch home grown corn where they can have foreign. —p. 331.

It might be maintained that fruit of Nature had become so bad in course of time that it has become more and more necessary to obtain better, larger and better flavoured fruit artificially. This may be, but to what point have we arrived with all our art at the end. We must to-day, in the midst of all that is unnatural, again grasp the hand of Nature and avoiding more and more all sins against God and Nature, come finally to what is better than Paradise. —p. 356.

14. If mankind turns again to God and Nature, the great social differences of the present time will disappear of themselves and there will, at the same time, be more equality in labour. —p. 322.

He will be morally pure, without desease, and will reach, in the full freshness and strength of youth, a far greater age, a thousand years like the Patriarchs. This is the Millennium. There will be no tedium, and no amusement will be necessary. No more animals will be slain and peace will everywhere prevail. Man will live in full harmony with God and therefore, in complete happiness. The wolf shall dwell with the lamb and the leopard shall be down with the kid, and the calf and the young lion shall end the battling together and a little child shall lead them. And the cow and the bear shall feed their youngones and shall lie down together and the lion shall eat straw like the ox. And the sucking child shall play on the hole of the asp, and the weaned child shall put his hand on the cockatrice's den. —p. 357.

सिंह गाय के साथ बैठकर प्रेम करें, अर्थात् संसार में प्रेम, शान्ति और आनन्द का सागर भर जाए और दु:ख, दारिद्र्य, शोक, सन्ताप का नाश हो जाए।

अब प्रश्न होता है कि पाश्चात्यों में ऐसे विचार क्यों उत्पन्न हुए। ऐसे विचारों की उत्पत्ति के चार कारण हैं—

१. पाश्चात्य विद्वानों को दिखलाई पड़ रहा है कि संसार में जन-संख्या बढ़ रही है, अत: एक समय ऐसा आनेवाला है कि पृथिवी पर पैर रखने का भी स्थान न रहेगा।

२. पाश्चात्य विद्वानों में साम्यवाद की लहर उत्पन्न हुई है। इस लहर में निर्धन-धनिक, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, छोटे-बड़े और कुलीन-अकुलीन के लिए स्थान नहीं है।

३. शान्तिमय दीर्घ जीवन की स्वाभाविक अभिलाषा, बीमारी और युद्धों के तिरस्कार ने भी विचारों में परिवर्तन किया है।

४. नवीन वैज्ञानिक खोंजों के आधार पर पुनर्जन्म, परमेश्वर, कर्मफल और मोक्ष आदि की पारलौकिक चर्चा तथा सभ्यता की प्रेरणा ने भी विद्वानों को विचार-परिवर्तन की ओर आकर्षित किया है।

ये चारों सिद्धान्त ऐसे हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ये दृष्टि के सामने हैं और व्यवहार में आ रहे हैं। जन-संख्या की वृद्धि, समता के भाव, जीने की स्वाभाविक इच्छा और परलोक चिन्ता ने पाश्चात्यों को प्रकृति की ओर लौटने और वर्त्तमान भौतिक विलासिता से दूर भागने पर विवश किया है। साम्यवाद के पूर्ण प्रचार से कोई देश किसी अन्य देश का धन अपहरण नहीं कर सकता। वह यह संकल्प नहीं कर सकता कि अपने व्यापार-कौशल और सेना के दबदबे से दूसरे देशवासियों को निर्धन करके स्वयं धनवान् हो जाए। ऐसी दशा में मशीनों, कल-कारखानों और नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों का अन्त होना ही चाहिए। साथ ही नौकर के नाम का भी अन्त होने से धनाढ्यता का नाश होना भी सम्भव है। सबको समान अन्न-वस्त्र मिलने-मिलाने की व्यवस्था किये बिना, साम्यवाद का कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता, परन्तु इस समता से भी यह न समझना चाहिए कि आजकल की भाँति विपुल परिमाण में अन्न-वस्त्र और सुख-साधन की सामग्री सबको मिल सकेगी। जन-संख्या की वृद्धि के कारण बहुत ही थोड़ा-थोड़ा सामान मिल सकेगा। चाहे जितना थोड़ा-थोड़ा लिया जाए, परन्तु यदि सन्तति-वृद्धि होती गई तो थोड़ा-थोड़ा भी न मिल सकेगा। सन्तति-निरोध के बिना और कोई उपाय नहीं है कि जनसंख्या की वृद्धि रोकी जा सके। सन्त्रति-निरोध के आज तक जितने कृत्रिम उपाय किये गये हैं, उन सबसे रोगों की वृद्धि हुई है, इसलिए बिना अखण्ड ब्रह्मचर्य के और कोई उपाय नहीं है। अखण्ड ब्रह्मचारी के लिए विलासिताहीन सादा जीवन ही उपयोगी हो सकता है, इसलिए भी वर्त्तमान आडम्बर का नाश ही दीखता है। जन-संख्या की वृद्धि के रोकने का एक दूसरा नियम है जो अब तक चलता रहा है। वह है युद्ध, दुष्काल और बीमारी, परन्तु सभ्यता का दम भरनेवाले पाश्चात्य कहते हैं कि यदि अब भी युद्ध होते ही रहे, दुष्काल और बीमारियों को हम न रोक सके तो कहना पड़ेगा कि 'विकासवाद' असत्य है, क्योंकि लाखों वर्ष पूर्व भी जीने के लिए युद्ध ही होते थे और बीमारी तथा दुष्काल से जन-संख्या का संहार होता था, परन्तु अब वह समय नहीं है। अब ज्ञान-विज्ञान का काल है, इसलिए अब बर्बरतापूर्ण रक्त-पात नहीं किया जा सकता। युद्ध तो बन्द ही करना पड़ेगा और नहरों तथा वैज्ञानिक वर्षा से दुष्काल हटाने पड़ेंगे तथा

बीमारियों को दूर करना ही पड़ेगा। 'लीग आफ़ नेशन्स' अर्थात् संसार की समस्त जातियों की महासभा का जन्म युद्धों के रोकने के लिए ही हुआ है।

क्यों यह सब करना पड़ेगा ? इसलिए कि न करने से सभ्यता का नाश होगा। सभ्यता की रक्षा क्यों करनी चाहिए ? इसलिए कि ज्ञान से उत्पन्न न्याय, दया, प्रेम और चरित्र का उपयोग हो। न्याय, दया, प्रेम, विचार और चरित्र-गठन ने अब मनुष्य-सभ्यता को इतने ऊँचे स्थान पर पहुँचा दिया है कि वह अपने और अन्यों के जीवन को अमूल्य समझने लगा है। जिस प्रकार स्वभावतः कोई मनुष्य किसी के द्वारा मरना नहीं चाहता उसी प्रकार उच्च सभ्यता से प्रेरित होकर वह किसी को मारना भी नहीं चाहता। ऐसी दशा में युद्धों, बीमारियों और दुष्कालों को होने देना अब अन्तःकरण स्वीकार नहीं करता। यहाँ से दीर्घ जीवन की कामना और महत्ता आरम्भ होती है। दीर्घ जीवन के लिए ब्रह्मचर्य, सादगी, सात्त्विक आहार, प्राणायाम, चिन्ता-त्याग और जंगल-निवास आदि साधन अनिवार्य हैं। इससे भी वर्त्तमान भौतिक सभ्यता का अन्त ही प्रतीत होता है। दीर्घ-जीवन यदि बिना किसी उद्देश्य के केवल जीते रहने के लिए ही है तो वह निरर्थक-सा ही है, परन्तु बात यह नहीं है। मनुष्य के सामने जन्म-मरण, सुख-दुःख, लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा और बन्ध-मोक्ष जैसे महान् आवश्यक और विज्ञानपूर्ण इतने अधिक सुलझाने योग्य प्रश्न हैं और उनके सच्चे उत्तर पाने के लिए इतना अधिक काम है कि दीर्घजीवी के लिए लम्बा-से-लम्बा समय भी बहुत ही थोड़ा है। यदि वह इस मार्ग से जो उसके विशेष जीवन से सम्बन्ध रखता है ईमानदारी के साथ आगे चले तो वह अपने और संसार के लिए अत्यन्त अमूल्य वस्तु सिद्ध हो सकता है, अतएव इस दृष्टि से भी वर्त्तमान पाश्चात्य युग का नाश होना ही है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अपने सामने इतनी लम्बी स्कीम देखकर और वर्त्तमान भौतिक अँधाधुन्ध से तंग आकर जो विचार प्रकट किये हैं उन्हें हम 'प्रकृति की ओर लौटो' नामी पुस्तक से लेकर बहुत कुछ लिख चुके हैं। अब आगे उन्हीं सिद्धान्तों की पुष्टि में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने जो अन्य पुस्तकें और लेख लिखे हैं, उनके कुछ उदाहरणों को उद्धृत करके दिखलाना चाहते हैं कि किस प्रकार पाश्चात्य सहृदय विद्वान् वर्त्तमान भौतिक जंजाल से निकलकर सात्त्विक प्रकाश में आना चाहते हैं।

भौतिक उन्नति में विलास प्रधान वस्तु है। विलास का मूल ध्येय अत्यधिक रति है। शृङ्गार, मादक वस्तुओं का सेवन तथा मांस-मत्स्य का आहार उसके सहायक हैं, और तज्जन्य अनिवार्य रोगों की चिकित्सा के लिए वैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक है। इसी प्रकार शृङ्गार के लिए भी नाना प्रकार के चित्ताकर्षक पदार्थों की आवश्यकता है और उनकी उत्पत्ति के लिए शिल्पकला की उन्नति अनिवार्य है। यह सब आयोजन बिना विपुल धनराशि के बनता ही नहीं और यह धन बिना व्यापार के इकट्ठा नहीं हो सकता, अतएव व्यापार-कौशल से दूसरों का धन अपहरण करने के लिए यान्त्रिक कारख़ानों और कम्पनियों की आवश्यकता होती है तथा इस समस्त पाप की रक्षा के लिए सेनाबल और सैनिक विज्ञान की उससे भी अधिक आवश्यकता होती है। जातीय अभिमान, शासन और किसी विशेष सभ्यता का प्रचार आदि उस पाप के छिपाने के बहाने बना लिये जाते हैं और दूसरों का ख़ून चूसकर कामक्रीड़ा की जाती है। विद्वानों ने इस कामक्रीड़ा-जात विघातक नीति से घबराकर लोगों को प्रकृति की ओर लौटने का आदेश किया है। आगे हम

कामक्रीड़ा, विलास, शिल्प, पाश्चात्य सभ्यता, राज्य, युद्धविज्ञान और सात्त्विक मार्ग आदि पर जो वहाँ के विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ दी हैं, उन्हें संक्षेप से लिखते हैं।

वहाँ की कामुकता की क्या अवस्था है, उससे क्या हानि हो रही है, कृत्रिम उपायों से कैसे भयङ्कर परिणाम हो रहे हैं और उसपर विद्वान् अब किस प्रकार का नियन्त्रण करना चाहते हैं, यहाँ हम नाममात्र—नमूने के रूप में दिखलाना चाहते हैं। जंजीबार के बिशप ने ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी—आधुनिक सभ्यता के केन्द्र लण्डन के बारे में लिखा है कि 'London is a glorious city, but is terribly in the hands of Satan' अर्थात् लण्डन एक सुन्दर और ऐश्वर्यशाली नगर है, परन्तु वह शैतान के पंजों में बुरी तरह से फँसा हुआ है। सन् १९२५ में ट्रुथ (Truth) नामक प्रसिद्ध समाचार ने लिखा था कि इंग्लैण्ड में प्रतिवर्ष ३७,००० अवैध बच्चे उत्पन्न होते हैं, जिनका न कोई बाप होता है और न कोई माँ। विज्ञान और कला में उन्नत जर्मनी की राष्ट्र प्रतिनिधि सभा को ३०,००० मनुष्यों ने अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक आवेदन पत्र भेजा था कि जर्मनी में नर को नर से, अर्थात् पुरुष को पुरुष से शादी करने की अनुमति दी जाए। इस विषय पर रीस्टाग में बहस भी हुई थी। अमेरिका के प्रसिद्ध जज लिंड्से का कहना है कि चौदह वर्ष की अवस्था तक पहुँचने से पहिले ही दश में से एक अमेरिकन अविवाहित बालिका गर्भवती हो जाती है। अमेरिका में डेनवर नाम का एक छोटा-सा क़स्बा है, जिसकी जनसंख्या केवल ३०,००० है। उसमें २००० युवतियाँ विवाह होने से पहले ही गर्भवती पाई गई हैं। विलायत में बलात्कारों के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान कमेटी बनी थी, उसकी रिपोर्ट के आधार पर लाला लाजपत राय ने इस विषय में बहुत कुछ लिखा है। इसी प्रकार जज लिंड्से और थर्स्टन आदि विद्वानों ने भी लिखा है। जब से मिस मेयो ने भारत के नापदान की रिपोर्ट प्रकाशित की है, तब से पश्चिम के देशों की ऐसी छीछालेदर सुनने को मिल रही है कि बस तोबा। लोगों ने वहाँ के अपवित्र, बीभत्स और पाशव कृत्यों का ऐसा वर्णन किया है कि उसको पढ़कर यूरोप-निवासियों की मनोवृत्ति का चित्र सामने आ जाता है। वह सब अमङ्गल और अपवित्र वर्णन हम यहाँ नहीं करना चाहते, किन्तु हम यह अवश्य दिखलाना चाहते हैं कि इन पाशव कृत्यों का वहाँ के मानसिक, शारीरिक और सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, वैज्ञानिक साधनों ने क्या प्रभाव किया और अब विचारशील भद्र विद्वानों की अन्तिम सम्मति क्या है।

गुजराती नवजीवन के दो अङ्कों (२० सितम्बर और १४ अक्टूबर सन् १९२८) में थर्स्टन साहब की 'वैवाहिक तत्त्वज्ञान' नामी पुस्तक के विषय में एक लम्बा लेख छपा है। उसमें लिखा है कि थर्स्टन साहब अमेरिका की सेना में दश वर्ष तक रहे और मेजर के पद तक पहुँचे। सन् १९१९ में नौकरी से निवृत्त होकर न्यूयॉर्क में रहने लगे। अठारह वर्ष तक उन्होंने जर्मनी, फ्रांस, फ़िलिपाइन, चीन और अमेरिका के विवाहित दम्पतियों का ख़ूब अध्ययन किया। अपने निरीक्षण के साथ ही सैकड़ों प्रसूतिशास्त्रनिपुण स्त्रीरोग-चिकित्सक डॉक्टरों के साथ परिचय और पत्र-व्यवहार भी किया। इसके सिवा लड़ाई में सम्मिलित होनेवाले उम्मीदवारों के शारीरिक परीक्षापत्रों तथा आरोग्यरक्षक मण्डलों की इकट्ठी की हुई सामग्री से भी परिचय प्राप्त किया। इतने अनुभव के बाद आप कहते हैं कि 'निरंकुश विषयभोग से स्त्रियों के ज्ञानतन्तु अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं। असमय में ही बुढ़ापा आ जाता है, शरीर रोगों का घर बन जाता है और स्वभाव चिड़चिड़ा तथा उत्पाती हो जाता है। वे बच्चों की भी सँभाल नहीं कर सकतीं। ग़रीबों के यहाँ इतने बच्चे पैदा

होते हैं कि उनका पोषण और सेवा करना कठिन हो जाता है। ऐसे बालक रोगी होते हैं और बड़े होने पर आपराधिक प्रवृत्ति के हो जाते हैं। बड़े लोगों में प्रजोत्पत्ति रोकने और गर्भपात करनेवाले साधनों का उपयोग होता है। इन साधनों का उपयोग साधारण स्त्रियों को सिखलाने से उनकी सन्तान रोगी, अनीतिमान् और भ्रष्ट होकर अन्त में नष्ट हो जाती है। अतिशय सम्भोग के कारण पुरुष का पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। वह काम करके अपना निर्वाह करने में भी अशक्त हो जाता है और अनेक रोगों के कारण असमय में ही मर जाता है। अमेरिका में आज विधुरों की अपेक्षा विधवाएँ बीस लाख अधिक हैं। इनमें थोड़ी ही लड़ाई के कारण विधवा हुई हैं। अधिक तो इस कारण हुई है कि विवाहित पुरुषों का अधिक भाग ५० वर्ष की उमर पर पहुँचने के पहले ही जर्जरित हो जाता है। पुरुष और स्त्री दोनों में एक प्रकार की हताशा आ जाती है। संसार में आज जो दरिद्रता है, शहरों में जो घने और ग़रीब मुहल्ले हैं, वे मज़दूरी न मिलने के कारण नहीं है, किन्तु आज की वैवाहिक स्थिति से पोषण पाये हुए निरंकुश विषय-भोग के कारण हैं। गर्भावस्था में विषय-भोग के कारण उत्पन्न हुए बच्चे विकलाङ्ग होते हैं। अमेरिका में इनकी परीक्षा हुई, तो १८ से ४५ वर्ष की उमर तक के २५ लाख १० हज़ार सेना योग्य जवानों में से केवल ६ लाख ७२ हज़ार मनुष्य ही पूर्णाङ्ग निकले, शेष सब हीनाङ्ग थे'।

कृत्रिम उपायों से सन्ततिनिरोध का जो मार्ग अवलम्बन किया गया है उसके तो और भी अधिक भयङ्कर परिणाम हुए हैं। थर्स्टन साहब कहते हैं कि 'स्त्रियाँ गर्भाधान रोकने के लिए जिन साधनों का प्रयोग करती हैं, उनके विषय में डाक्टरों की राय है कि प्रति सैकड़ा ७५ को हानि पहुँची है। कृत्रिम साधनों से गर्भ रोकने के कारण अकेले पेरिस में ही ७५ हज़ार रजिस्टर्ड और इससे अनेक गुणा अनरजिस्टर्ड वेश्याएँ हैं। फ्रांस के अन्य शहरों में भी इसी प्रकार वेश्याओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों की अनगिणत संख्या है। कृत्रिम साधनों के द्वारा प्रजोत्पत्ति रोकने का प्रश्न बड़ा गम्भीर है। मैं अपने अवलोकनों और अन्वेषणों से बलपूर्वक कहता हूँ कि आज तक इसका प्रमाण नहीं मिला कि इन साधनों से हानि नहीं होती, प्रत्युत ज्ञानवान् स्त्रीरोग-चिकित्सक कहते हैं कि इन साधनों से शरीर और नीति पर बड़ा ही भयङ्कर परिणाम होता है। अनुभवी लोग कहते हैं कि कृत्रिम साधनों के उपयोग से स्त्रियों को केन्सर आदि रोग हो जाते हैं। स्त्रियों के कोमल-से-कोमल मज्जातन्तुओं पर इन कृत्रिम साधनों का बहुत बुरा प्रभाव होता है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। बहुत-से प्रतिष्ठित डाक्टरों का कहना है कि इन कृत्रिम साधनों के कारण बहुत-सी स्त्रियाँ वन्ध्या हो गई हैं, उनकी जीवन शुष्क हो गया है और उनके लिए संसार विषरूप हो गया है।

जज लिंड्से इन साधनों के पक्षपाती हैं, परन्तु उसे पता नहीं है कि इनसे कितना बड़ा सत्यानाश हुआ है। देखो अकेले पैरिस में ही ७५ हज़ार तो रजिस्टर्ड और इससे अनेक गुणा अनरजिस्टर्ड घरेलू वेश्याएँ हैं। फ्रांस में जन्म की संख्या मरण की संख्या से कम हो गई है। फ्रांस के अन्य शहरों में भी इस गन्दगी का—जननेन्द्रिय के रोगों का पार नहीं हैं। रोग से पीड़ित हज़ारों स्त्रियाँ डाक्टरों का घर ढूँढती फिरती हैं। कितने ही वर्षों से फ्रांस में जन्म की संख्या मरण की संख्या से कम हो गई है। फ्रांस-वासियों का नाम संसार में नीति-विषय में अत्यन्त हीन हो गया है। फ्रांस की लड़कियाँ दासता के व्यापार में बढ़ी-चढ़ी हैं। गत एक सौ वर्ष में फ्रांस की यह दशा हुई है तो भी जज लिंड्से को अपने साधनों को नया आविष्कार कहते हुए शर्म नहीं आती।

इन मूर्खों को कौन समझाए कि प्रजा में जन्म-मरण की बढ़ी हुई संख्या को रोकने का उपाय केवल विषयभोग से निवृत्ति ही है? इन लोगों को क्यों नहीं सूझता कि पशुओं में यही उपाय काम में आ रहा है? इन लोगों को क्यों नहीं समझ में आता कि इन कृत्रिम साधनों से स्त्रियाँ वेश्या बनती है और पुरुष नपुंसक हो जाते हैं? यह भ्रम है कि आरोग्य के लिए पुरुषों से संयम हो ही नहीं सकता। रोगरहित वीर्यवान् पुरुषों में विषयेच्छा मध्यम होती है, परन्तु यदि उनमें पुरुषार्थ की कोई उच्च कामना प्रबल रूप धारण करे तो बहुत समय तक विषयेच्छा मन्द हो जाती है। असल आवश्यकता तो उस महाध्येय की है जिसके लिए मनुष्य अपनी समस्त शक्ति व्यय करने का सङ्कल्प करे। ऐसे ध्येय अनेक हैं। एक सामान्य ध्येय तो उत्तम सन्तान उत्पन्न करना ही है। स्वस्थ बालक उत्पन्न करने, उसके पालन-पोषण करने और शिक्षा देकर उसे योग्य नागरिक बनाने में लग जाने से विषयेच्छा लुप्त हो जाती है। दूसरा ध्येय कीर्ति का है जैसेकि मनुष्यों का कल्याण करना अथवा कोई और महान् पराक्रम करके नाम पैदा करना आदि। सम्भव है नाम पैदा करने के साथ-साथ विषयभोग के लिए भी बहुत-सा मौका मिले, परन्तु कीर्ति की लालसा विषयेच्छा को पूर्ण रीति से दबा सकती है।

आरोग्य के लिए विषयभोग आवश्यक है, इस भ्रम को दूर करना प्रत्येक डाक्टर और अनुभवी परामर्शदाता का कर्त्तव्य है। मैं अपने अनुभव और अनेक डाक्टरों से समागम के परिणाम से कहता हूँ कि बहुत वर्षों तक ब्रह्मचर्य धारण करने से कुछ भी हानि नहीं होती, प्रत्युत अपार लाभ होता है। अनेक युवा पुरुषों में जो उत्साह और तत्परता देखने में आती है वह विषयभोग से नहीं, प्रत्युत संयम से ही है। प्रत्येक पुरुषार्थी मनुष्य को जाने-अनजाने इस सूत्र का पालन करना चाहिए कि विषयकामना तृप्त करने में व्यय होनेवाली शक्ति पुरुषार्थसिद्धि में लगाई जा सकती है और जितना ही शक्ति का संचय होगा उतनी ही बड़ी सिद्धि प्राप्त होगी'। इस समग्र वर्णन से स्पष्ट हो रहा है कि किस प्रकार यूरोप में कामुकता बढ़ी हुई है और किस प्रकार जन-संख्या की वृद्धि रोकनेवाले कृत्रिम उपायों से अधिकाधिक दुःखों की वृद्धि हुई है तथा किस प्रकार अब परिमित सन्तति को ब्रह्मचर्यपूर्वक उत्तम बनाने का आयोजन हो रहा है। यह तो कामक्रीड़ा की दशा का वर्णन हुआ। अब देखना चाहिए कि उसकी सहायक विलासिता के विषय में विद्वानों की क्या सम्मति है।

अंग्रेजी की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'वैलफ़ेयर' (The Welfare) में मेजर बी० डी० बसु ने विलासिता शीर्षक एक विचारपूर्ण लेख़ लिखा है। प्रोफ़ेसर रॉस (Prof. Ross) की साक्षी से आप कहते हैं कि 'दूसरे देशों के साथ समागम होने से लोगों का विदेशी विलासिताओं से परिचय होता है और यह परिचय उनके हृदयों में नई-नई आकांक्षाएँ उत्पन्न कर देता है। उपभोग्य वस्तुओं के परिमाण में सहसा वृद्धि होने से और उनको प्राप्त करने के साधनों के अभाव से लोगों की धन-प्राप्ति की लालसा प्रबल हो जाती है। यह लालसा उनके प्राचीन आदर्शों को नष्ट कर देती है और पदार्थों के प्राचीन मूल्यों में उलट-पुलट मचा देती है। विदेशी संस्कृति की बहुत-सी बातों को ग्रहण कर लेने से ऊँची श्रेणी के मनुष्यों का पतन हो जाता है। यूनानी नीतिशास्त्रज्ञों ने एशिया की विलासिताओं का प्रचार देखकर दुःख प्रकट किया था, क्योंकि इस विलासिता ने ही उनमें धन की इतनी प्रबल आकांक्षा उत्पन्न कर दी थी कि उन्होंने फ़ारिस देश के राजा का वेतन तक ले-लिया था। दुर्भाग्यवशात् इस समय भारत में भी यही हो रहा है।

विलासिता जाति के लिए आत्महत्या के समान है, क्योंकि इस विलासिता के साथ-साथ लोगों में बच्चों के जनन और परिचालन के प्रति भी अरुचि उत्पन्न हो जाती है। विलासिता ही फ़ैशन की जननी है।

काउण्ट गायकोमो ल्योपार्डी (Count Giacomo Loepardi) ने अपनी 'फ़ैशन और मृत्यु का संवाद' नामक पुस्तक में इन दोनों को व्यंग्यपूर्वक एक-दूसरे की बहिन कहकर पुकारा है। वह मृत्यु के प्रति फ़ैशन से कहलाता है कि बहिन! हम तुम दोनों के जो भाव और कार्य हैं, वे सदा विश्व को नवीन करते हैं, परन्तु तुमने तो सदा से ही मनुष्यों के शारीरिक सङ्गठनों और उनके जीवनों के परिवर्त्तन में अपने प्रयासों को लगा रक्खा है, किन्तु मैं तो उनके दाढ़ी, केश, वस्त्र, सामान और मकान आदि के बदलते रहने में ही अपनी चेष्टाओं का प्रयोग करती हूँ। यह सत्य है कि मैंने कभी-कभी मनुष्यों के साथ कुछ चालाकियाँ की हैं, परन्तु वे चालाकियाँ इतनी ख़राब नहीं है कि तुम्हारे कार्यों से उनकी तुलना ही न की जा सके। मेरे कहने का सार यह है कि मैं सदा इस बात का प्रयत्न करती हूँ कि अधिक आकांक्षावाले मनुष्य जो मेरे प्रति प्रेम रखते हैं, वे उस प्रेम के प्रतिफलस्वरूप नित्य सैकड़ों असुविधाएँ और कभी-कभी तो वेदनाएँ, विकलताएँ और मृत्यु तक को सहन करते रहें। इसके प्रत्युत्तर में मृत्यु कहती है कि धर्म की सौगन्ध! अब मुझे विश्वास होने लगा है कि तुम वास्तव में मेरी बहिन हो। तुम्हारा कहना उतना ही सत्य है जितना मृत्यु। अब तुम्हें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि तुम अपने कुलपुरोहित का दिया हुआ जन्मपत्र इस बात को प्रमाणित करने के लिए पेश करो कि तुम मेरी बहिन हो'।

विलासिता और जिन कारखानों से विलासिता की सामग्री बनाकर धन एकत्र किया जाता है, दोनों के लिए नौकरों की आवश्यकता होती है। आजकल नौकरों और कारख़ाने के क़ुलियों की जो हालत है, वह सभी जानते हैं। बड़ी-बड़ी हड़तालें उसका प्रमाण हैं। यहाँ हम कारख़ानों के मज़दूरों के विषय में अधिक नहीं लिखना चाहते। हम तो यहाँ केवल घरेलू नौकरों के ही विषय में देखते हैं कि उनके लिए कितना मानदान करना पड़ता है। इस सम्बन्ध का एक विज्ञापन 'Return to Nature' से लेकर हम यहाँ उद्धृत करते हैं। यह विज्ञापन जर्मनी के 'Blanken Burger Kreis Blott' नामक पत्र में इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—'एक कुटुम्ब के लिए जिसमें तीन बच्चे हैं, नौकरानी नहीं, किन्तु एक सहायक की आवश्यकता है। घर की रमणी स्वयं ख़ूब काम करनेवाली है। उनकी इच्छा केवल एक सहायका की है। वेतन मिलेगा, परन्तु यह कभी भी विचार न किया जाए कि वह वेतन के लिए नौकरी करती हैं। काम के साथ ही ख़ासा मनोरञ्जन रहेगा। यदि उनकी इच्छा हो तो वे हमारे कुटुम्ब का अङ्ग होकर रहें। हम उनको अपना अधीनस्थ न समझेंगे। वे काम के अतिरिक्त समय में स्वतन्त्रतापूर्वक अन्यों के साथ मिलजुल सकती है'[१]। नौकरों की हालत इस विज्ञापन से ज्ञात हो जाती है और पता लग जाता है कि

---

१. A lady-help, not a servant maid, wanted for a family with three children. The lady of the house is herself extermely active and desires only some one to assest her work. So the lady-help may give her strength, she will receive a corresponding salary, but must never have the feeling that she is serving for pay. There is a great deal to do in our household but in return there are social gatherings and hearty merriment. The lady-help would, of course, be a part of our family if she desire to do so, but she can live her own life and take part in ours, if she prefers to do so. We would never try to subordinate the will of the lady-help to ours, she shall remain free in preson except so far as she takes part in our house work. —*Blanken Burger Keris Blott—Return to Nature—p. 324.*

नौकरों की कितनी ख़ुशामद करनी पड़ती है। इस वर्णन से स्पष्ट हो रहा है कि अब नौकरों के द्वारा विलास की वृद्धि नहीं की जा सकती।

यह तो नौकरों का हाल हुआ। अब तनिक कारख़ानों के बारे में भी देखिए कि क्या सम्मति है। कम्पनियों द्वारा चलाये जानेवाले बड़े-बड़े कारख़ानों के विरुद्ध भी बड़े-बड़े अनुभवी व्यापारी और विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ दी हैं। हेनरी फ़ोर्ड, जिनकी फोर्ड नामक मोटर संसार की समस्त मोटर कम्पनियों को पीछे छोड़ रही है, व्यापारिक विज्ञान के बहुत बड़े ज्ञाता है। आप कहते हैं कि 'गाँव-गाँव में छोटे-छोटे कारख़ाने खोलने चाहिएँ'। इसी प्रकार अमरीका के प्रसिद्ध व्यापारी एडवर्ड ए० फ़िलीम कहते हैं कि 'ग्रामों से अलग-अलग माल तैयार होकर ही पर्याप्त माल मिल सकता है'। ये सम्मतियाँ हैं जो गृहशिल्प की ओर बढ़ने की शिक्षा देती हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वानों की सम्मति में जब कल-कारखानों की, शिल्प और वाणिज्य की वृद्धि होती है तब राज्यों का पतन हो जाता है। बेकन नामी प्रसिद्ध विद्वान् कहता है कि 'राज्य की आरम्भिक दशा में लड़ाई के शस्त्रों की बढ़ती होती है, मध्यम अवस्था में ज्ञान-विज्ञान, शस्त्रास्त्र दोनों की भरमार रहती है और राज्य की अवनति के समय कल-कारखानों की, शिल्प और वाणिज्य की वृद्धि होती है[१]'।

इन विचारों से सूचित होता है कि वाणिज्य, शिल्प और कल-कारख़ानों के विरुद्ध आवाज़ उठने से नगर उजड़ जाएँगे और देहात का सादा जीवन सामने आ जाएगा। इस देहात के सादे जीवन पर कवियों की उक्तियाँ बड़ी ही मनोरञ्जक हैं। काण्ट कहता है कि 'क्या प्रकृति ने और उत्तम मस्तिष्कों ने दु:खों को दूर करनेवाला कोई पर्याप्त मार्ग नहीं ढूँढ निकाला?'[२] इस पर गीथी कहता है कि 'हाँ! ऐसा उपाय प्राप्त हुआ है जो डाक्टर, वैद्य, सोना, चाँदी, और जादूटोना से भिन्न है। सामने खेत को देख और कुदाली-फावड़े से काम कर। आत्मसंयम कर और व्यर्थ की आशाओं को छोड़ दे। अपनी समझशक्ति और संकल्पबल को परिमित क्षेत्र में बढ़ने दे। अमिश्रित भोजन, अर्थात् फलाहार से ही अपने शरीर को बढ़ने दे। गाय-बैल से मित्रतापूर्वक बर्ताव कर। जिस ज़मीन की उपज तू लेता है और उसके लिए जो कुछ काम तू करता है उसको नीच न समझ। मुझपर विश्वास कर, अस्सी वर्ष तक जवानी स्थिर रखने का यही उत्तम मार्ग शेष रह गया है'[३]।

---

१. In the youth of a state arms do flourish, in the middle age of a state learning and then both of them together for a time, in the declining age of a state mechanical arts and merchandise.
—Bacon Verulani, the Fransis philosopher.

२. Thus Nature, then, and has a noble mind
Not any potent balsam yet invented?

३. Good! the method is revealed
Without gold or magic or physician
Betake thyself to yonder field
There get and dig as thy condition
Restrain thyself, thy sense and will
Within a narrow sphere to flourish
With unmixed food thy body nourish
Live with the ox as brother and think it is not a theft
That thou manur'st the acre which thou reapest
That, trust me, is the best mode left thy
Whereby for eighty years thy youth thou keepest.

इस ग्राम्य जीवन में बाधा डालनेवाली पाश्चात्य सभ्यता है। उसके विरुद्ध भी विद्वानों ने आवाज़ें उठाई हैं। चीन का नेता डॉ० सनयातसेन कहता है कि 'पाश्चात्य सभ्यता द्वारा संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती और न किसी देश की वास्तविक उन्नति ही हो सकती है, क्योंकि उस सभ्यता के अन्त:स्थल में हिंसा तथा स्वार्थ की लहरें उठा करती हैं और यही लहरें आगे चलकर देश के सत्यानाश का कारण होती हैं'[१]। इसी विषय में महात्मा गाँधी कहते हैं कि 'इसके नाश के लिए संसार के बड़े-से-बड़े भयानक अस्त्रों का भी प्रयोग करना पड़े तो मैं उद्यत हूँ, यदि मुझे विश्वास हो जाए कि उनके द्वारा इसका नाश होगा'[२]।

यह पाश्चात्य सभ्यता जिस यान्त्रिक और सामरिक राज्यबल से चलाई जाती है उस युद्धपूर्ण राज्य के विषय में भी देखिए, विद्वानों की क्या सम्मति है। यूरोप में वर्त्तमान प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रतापद्धति को सबसे पहले फ्रांस ने ही उत्पन्न किया है। फ्रांस में इस क्रान्ति का मूल प्रचारक रूसो नामी महापुरुष हुआ। इसका समय १७१२ से १७७९ तक है। राज्यव्यवस्था के विषय में रूसो कहता है कि 'जब मनुष्य पर कोई शासन नहीं था, अर्थात् जब वे सृष्टि की आदि अवस्था में थे, उस समय उन्हें सच्चा सुख प्राप्त था। उनके दु:ख का आरम्भ तभी से हुआ जब उनमें शासनप्राणाली का उद्भव हुआ अथवा परिस्थिति के बिगड़ जाने पर मनुष्यसमाज ने जब अपना रूप धारण किया। समाज बनने के पहले मनुष्य अकेला रहता था, अपनी राह चलता था, न किसी का लेना और न किसी का देना, परन्तु जनसंख्या के बढ़ने और सम्पत्ति पर पैतृक अधिकार हो जाने के कारण लोगों की कभी-कभी आपस में मुठभेड़ हो जाती, इसलिए उन्होंने समाज सङ्गठित किया, जिससे लोगों का काम नियमबद्ध हो जाए। सभी लोगों ने प्रतिज्ञा की कि हम अपने व्यक्तित्व को, अपने अधिकार को, समाज की सत्ता में, समाज के अधिकार में मिला देते हैं, फलत: सभी मनुष्यों का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व न रह गया, परन्तु सामाजिक दृष्टि में प्रत्येक के पास समाज के सारे अधिकार थे, क्योंकि उसने अपने अधिकार को समाज के अधिकार में मिलाकर समाज के अधिकार को अपना लिया था'[३]।

इसने राजा को ही सब आपदाओं का मूल बतलाया है। जिन सामरिक यन्त्रों के द्वारा वर्त्तमान राज्यव्यवस्था चलाई जाती है उन यन्त्रों द्वारा होनेवाले युद्धों के विषय में एक विद्वान् कहता है कि '**यूरोप में यन्त्र आविष्कारों ने शान्ति को कुचल दिया है। वहाँ यन्त्र आविष्कार अशान्ति को मिटा नहीं सके,** प्रत्युत युद्धों को एक प्रकार से अत्याचारी विजेता के पागलपन से भी अधिक भयानक बना दिया है'[४]। इसीलिए जेनेवा में रूस की बोलशेविक सरकार की ओर से मो० लिटविनोफ़ ने प्रस्ताव किया है कि 'संसार के सभी राज्यस्थल, जल और आकाश की कुल सेनाओं को एक साथ ही तोड़ दें, युद्ध के साधन नष्ट कर दिये जाएँ और क़ानून बनाकर सैनिक प्रचार और सैनिक शिक्षा का निषेध कर दें। यदि यह स्वीकार हो तो एक साथ सैन्य

---

१. 'आज' ता० २ अप्रैल, सन् १६२७
२. 'आज' ता० २ अप्रैल, सन् १९२७
३. 'सरस्वती' जुलाई, १९२६
४. Peace has been crushed by its own mechanism in Europe. The great mechanism of peace has not only preserved the peace, but it has made war more certain, more deadly, more catastrophic than the madness of any despot or the criminal ambition of any conqueror could possibly have made it.
—*Paradox of Armed Peace by Mr. Lucien Walf.*

घटाना शुरू करके चार वर्ष के भीतर सभी राज्य कुल सेनाएँ तोड़ दें'[1]। लीग आफ़ नेशन्स की स्थापना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई है। वर्त्तमान राज्यव्यवस्था से सभी लोग तङ्ग आ रहे हैं और रूस ने तो उसका अन्त ही कर दिया है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या रूस का यह आविष्कार सत्य सिद्धान्त पर स्थिर है ?

२१ अक्टूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में विद्यापीठ के एक विद्यार्थी के बोलशेविज़्म सम्बन्धी प्रश्न पर महात्मा गांधी ने लिखा है कि 'मुझे स्वीकार करना चाहिए कि आज तक मैं बोलशेविज़्म का अर्थ पूर्ण रीति से नहीं जान सका, परन्तु जितना जानता हूँ वह यह है कि इस नीति में किसी की अपनी निज सम्पत्ति नहीं होती। यह बात यदि सब लोग अपनी इच्छा से करें तब तो इससे उत्तम और कुछ भी नहीं है, परन्तु बोलशेविज़्म में बलात्कार को स्थान दिया गया है। बलात्कार से लोगों की सम्पत्ति छीनी गई है और बलात्कार से ही उसपर क़ब्ज़ा है। यदि यह बात सत्य हो तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह बलात्कार से साधा हुआ व्यक्तिगत अपरिग्रह दीर्घ काल तक निभनेवाला नहीं है, इसलिए मेरा विचार यह है कि जिस प्रकार का बोलशेविज़्म मुझे विदित है, वह अधिक समय तक टिकनेवाला नहीं है'। ज्ञात हुआ कि बोलशेविक राज्यव्यवस्था भी त्याज्य ही है। यहाँ तक देखा गया कि पश्चिम की भौतिक उन्नति के द्वारा जो कुछ आविष्कृत हुआ है, वह सभी कुछ त्याज्य समझा जाने लगा है। अब वहाँ के लोग भारतवर्ष की रीति-नीति पसन्द करने लगे हैं।

महात्मा टालस्टाय ने वहाँ अहिंसा का प्रचार किया है। इससे असमानता और युद्धों के प्रति द्वेष बढ़ रहा है। अहमदाबाद साबरमती आश्रम में ११ सितम्बर सन् १९२८ को टालस्टाय की जयन्ती के अवसर पर महात्मा गांधी ने कहा था कि 'जिन तीन महापुरुषों ने मुझपर अपना प्रभाव डाला है उनमें एक टालस्टाय भी हैं। उनके सम्बन्ध में मैंने बहुत पढ़ा नहीं है तथापि उनकी लिखी 'Kingdom of Heaven is Within You' नामी पुस्तक ने मुझपर बड़ा प्रभाव डाला है।
इससे मेरी नास्तिकता, हिंसा और अश्रद्धा आदि विचार चले गये हैं। सत्य और त्यागमूर्ति टालस्टाय का मैं आज भी पुजारी हूँ। टालस्टाय ने भरी जवानी में अपना दृष्टिकोण बदला और तीव्र विरोधों के होते हुए भी वे अपने विचारों पर दृढ़ रहे। टालस्टाय अहिंसा के बहुत बड़े पुजारी थे। उन्होंने पश्चिम को अहिंसा विषयक जितना साहित्य दिया है उतना और किसी ने नहीं दिया'[2]।

अहिंसा जहाँ दूसरों को सताने और मारने के लिए मना करती है, वहाँ स्वयं दीर्घ जीवन प्राप्त करने की ओर भी प्रेरणा करती है। दीर्घ जीवन प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन प्राणायाम है। यूरोप में प्राणायाम का प्रचार बढ़ रहा है। डाक्टर 'मे' कहते हैं कि जिससे हम श्वास लेते हैं उसी वायु पर हमारा जीवन अवलम्बित है और उसी से हमारी जीवनी शक्ति संचरित होती है। यदि हम लोग शुद्ध हवा में यथासम्भव निवास करें तो बड़ा लाभ होगा। रोगी मनुष्य हर प्रकार के व्यायाम को थोड़ा-थोड़ा आरम्भ करें और क्रमशः बढ़ाएँ। उनका लक्ष्य 'थोड़ा मगर सदैव' की ओर रहना चाहिए। प्रत्येक लड़के और लड़की को दीर्घ श्वास-प्रश्वास लेने का महत्त्व बता देना

१. 'विश्वामित्र' ६ दिसम्बर, १९२७
२. 'मुम्बई समाचार' १६ सितम्बर, सन् १९२८

चाहिए और उचित अध्यक्ष की अध्यक्षता में अभ्यास कराना चाहिए। इसका प्रभाव मन और शरीर दोनों पर अच्छा पड़ेगा। इससे शरीर के सब अङ्ग दृढ़ होकर मन के सुयोग्य और प्रशस्त सेवक बन जाएँगे[१]। फेफड़े का जीवन-पराक्रम अधिक-से-अधिक वायु भीतर भरकर, अधिक-से-अधिक वायु बाहर निकालने पर निर्भर है[२]।

दीर्घ तथा नियमित श्वास-प्रश्वास से मन की एकाग्रता करने में अवश्य सहायता मिलती है। अभ्यास करनेवालों को चाहिए कि पहने हुए कपड़ों को ढीला करके अपने फेफड़ों को मन्द तथा एक-सी वायु से पूर्णतया भर लें। श्वास को बिना अति उद्योग के रोके रहें और धीरे-धीरे एक-सा बाहर को फेंकें। इस अभ्यास से शान्त और ओजस्विनी अवस्था प्राप्त होती है जो एक शक्तिशाली व्यक्ति के लिए आवश्यक है। जब श्वास ले रहे हों तब प्रेम, स्वास्थ्य या आनन्द की एक गम्भीर भावना का अन्दर प्रवेश करें। जब तक श्वास रोकें रहें तब तक उसी भावना को रोके रहें और प्रश्वास के समय उसको भी बाहर फेंक दें[३]। इन क्रियाओं के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों ने प्राणायाम को सिद्ध कर लिया है। वे मनमाने समय तक बिना श्वास लिए मृतवत् रह सकते हैं। एडिनबरा के डाक्टर डंकन एक विद्यार्थी के विषय में लिखते हैं कि वह भी कर्नल टौनशैंड की भाँति मृतवत् होकर, सफलतापूर्वक प्राण लौटा लिया करता था[४]। उन लोगों के हालात लिपिबद्ध हो चुके हैं, जिन्हें हृदय की गति को इच्छापूर्वक रोकने की शक्ति प्राप्त है[५]। Lung developer नामी यन्त्र भी बन गया, जिससे प्राणायाम (Deep breathing) सीखने में सुगमता होती है। यूरोप के कई एक स्थानों की शिक्षाप्रणाली में भी प्राणायाम जोड़ दिया गया है और यह यन्त्र भी काम में लाया जाता है।

दीर्घ आयु, समता और सभ्यता के जीवन में जो सबसे बड़ी बात है वह आहार और विहार की है। निरामिष और अमादक पदार्थों को खा-पीकर ब्रह्मचर्यपूर्वक सादा जीवन बिताना ही उच्च और सात्त्विक जीवन कहलाता है। भारत देश के दो-चार महापुरुषों के कारण यूरोपनिवासियों

---

१. As it is by the means of air which we breathe that life is supported and vital energy retained, it is of great consequence that we should be as much as possible surrounded by that element in a state of purity. Invalids should commence all exercises very moderately and gradually increase them and set the motto 'a little but always'. Every boy and girl should be taught the value of deep breathing which should be practised under proper control. They would act beneficially both mentally and physically, strengthen the various organs of the body, and render them more able and efficient servants of the mind. —*Dr. May's Practical Method, p. 19.*

२. The vital capacity of the chest is the amount of air which can be expired from the chest after taking the deepest possible inspiration. —*Physiology, p. 138 by H. Ashby, M. P.*

३. An undoubted aid to concentration is to practice deep and regular breathing. Having loosened the clothing, fill your lungs to the fullest extent with slow and even inspiration, hold the breath without straining and expel it equally slowly. This exercise induces the calm, strong attitude essential to a powerful individuality.

Whilst inhaling draw in some deep thought of love, health or happiness, allwo the mind to dwell on it whilst keeping the breath in suspension, and rediate or give out the same quality during expiration. —*Mind Concentration, p. 38 and 39 by K. L. Anderson.*

४. Dr. Duncan, Edinburgh, mentions the case of a medical student who like Col. Townshend simulated successfully the appearance of death. —*Medical Juirsprudence for India, p. 82 by L. A. Waddell*

५. Cases are recorded of persons who have apparently possessed the power of voluntarily suspending the action of the heart. —*Medical Jurisprudence, p. 81*

के आहार, विहार और आचार में भी क्रान्ति हो रही है। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी आदि के विचारों ने वहाँ जो काम किया है वह नीचे लिखे दो-चार पत्रों से ज्ञात होता है।

स्वामी दयानन्द को Cumberland से Mr. Mild M.D. ने ता० १७.६.१८७९ के पत्र में लिखा था कि मेरी कामना केवल यही नहीं है कि सत्य को जानूँ, प्रत्युत यह है कि जहाँ तक मेरी आत्मा और शरीर से हो सके यथाशक्ति सत्य का जीवन व्यतीत करूँ[१]। दूसरे पत्र में एक दूसरे सज्जन Peter Devidson ने Scotland से लिखा था कि मैंने मांस खाना छोड़ दिया है और मद्यपान आदि नशों को भी त्याग दिया है। यद्यपि मेरा विवाह हो चुका है, परन्तु मैं ब्रह्मचारियों का-सा जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। मुझे धन तथा सांसारिक पदार्थों की अभिलाषा नहीं है। मेरी जिज्ञासु आत्मा के भीतर केवल यही प्रेरणा होती है कि इस बात का ज्ञान हो कि मनुष्य वास्तव में क्या है और वह क्या बन सकता है। साथ ही मैं सदाचार में अपने-आपको निपुण करना चाहता हूँ, जिससे मैं इस योग्य बन जाऊँ कि ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा को मिला सकूँ[२]।

इसी प्रकार के पत्र महात्मा गांधी के नाम भी आये हैं, जिनमें से दो पत्र यहाँ दिये जाते हैं। आस्ट्रियानिवासी एक दम्पती के पत्रों में से पत्नी का पत्र इस प्रकार है कि 'यहाँ सब लोग हिन्दोस्तान को विचित्र प्राणियों और चमत्कारिक घटनाओं का संग्रहस्थान समझते हैं। जो अहिंसा संसार को तारनेवाली है और जिस अहिंसा द्वारा हिन्द के लोग संसार की सेवा करनेवाले हैं, उसकी किसी को कुछ भी ख़बर नहीं है। मेरे पति के साथ मेरा सम्बन्ध आध्यात्मिक है। इसके कारण हम लोग एक-दूसरे को दूसरे विवाहित जोड़ों की अपेक्षा अधिक अच्छी प्रकार समझते हैं। ब्रह्मचर्य पालन करना मेरे पति को प्रारम्भ में बहुत कठिन लगा, इससे मैंने कई बार अपने को उलाहना भी दिया, परन्तु आपका लेख पढ़कर तो हम लोगों ने समझ लिया कि इसमें मेरे पति की आत्मोन्नति ही है। इसके लिए आपका कितना उपकार मानूँ? पश्चिम के विज्ञान में नास्तिकता भरी हुई है। इतना ही नहीं, किन्तु पश्चिम की कला में भी मैंने नास्तिकता ही देखी है। हमारे यहाँ भी धर्म है, परन्तु यहाँ का समाज तो धर्म पाल ही नहीं सकता। हमको सादगी पसन्द हो, हम अपना काम अपने हाथ से कर लें और हम अपनी छत पर पक्षियों को दाना चुगावें तो यह भी लोगों को चुभता है। हम जीवदया की बात कहते हैं तथा वृक्षों और तरुओं के बचाने की बात कहते हैं तो लोग हमपर हँसते हैं। यहाँ की शराबख़ोरी से तो बस तोबा है। हर प्रकार से यहाँ के लोग विषय में लीन हैं, परन्तु हम समझते हैं कि हमें अधीर न होना चाहिए। हमें भी अपना धर्म सँभालना चाहिए। परमेश्वर की कृपा से हमें एक आश्वासन मिला है—हम भगवद्गीता बाँचने लगे हैं। गीता-जैसा शान्तिप्रद ग्रन्थ साहित्य में दूसरा नहीं है। भारत से मैंने जो कुछ प्राप्त किया है, उस ऋण का बदला वहाँ जन्म लेकर और उसकी सेवा करके ही चुकाया जा सकता है'।

---

१. I desire not only to know the truth but to live the truth so far as my soul and body may permit.

२. I have abstained from animal food, alcoholic beverage and although a married man, live in a manner approaching to unmarried. I care nothing for money or worldly means. My ernest soul aspires only to know more of what man really is and what he can become and to perfect myself in virtues so as to be able to hold more advanced intercourse with the vast beyond.

पति का पत्र इस प्रकार है कि 'मेरी उम्र ४० वर्ष की है। बीस वर्ष तक मैं जिस वस्तु के लिए मारा-मारा फिरता था, वह वस्तु मुझे मिल गई है। आपके लेखों के पढ़ने से मानवबन्धुओं और मानवजाति से निम्न श्रेणी के प्राणियों के प्रति मेरे भाव बिलकुल बदल गये हैं। विश्वविद्यालय में मैं रोगशास्त्र का शिक्षक हूँ। इतने अनुभव के परिणाम से मैं देखता हूँ कि रोगनिवारण करने में प्राकृतिक चिकित्सा—सूर्य, प्रकाश, हवा, पथ्याहार और पथ्य जीवनक्रम आदि—जैसी दूसरी एक भी वस्तु नहीं है। मैं तो ख़ास अपने उद्धार के लिए आपका 'आरोग्यविषयक सामान्य ज्ञान' नामी पुस्तक पढ़ता हूँ। 'गुह्यप्रकरण' में आपने जो विचार दर्शाये हैं उनका आचरण बहुत-से लोग अशक्य समझते हैं, परन्तु हम उनका पालन कर रहे हैं। मुझे प्रतीत होता है कि मनुष्य के विकास की माप उसका विषयेन्द्रिय पर क़ाबू है। जो शान्ति और सन्तोष मुझे पश्चिम का विज्ञान नहीं दे सका वह अब मुझे मिल गया है और परम शान्ति का साधनमार्ग मेरी समझ में आ गया है। मैं आपके सिद्धान्तों के योग्य बनने का प्रयत्न करूँगा तथा अपनी अल्प मति और शक्ति के अनुसार अपने आसपास के वायुमण्डल में आपके सिद्धान्तों के प्रचार का प्रयत्न करूँगा।'

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द से दीक्षित होकर आज अमेरिका के सैकड़ों योग्य विद्वान् संन्यास धारण कर संन्यासी जीवन बिता रहे हैं और भारत माता की महिमा गा रहे हैं। पाश्चात्य विज्ञान बड़ी अशान्ति फैलानेवाला है, इसलिए सब लोग भारत माता की ओर देख रहे हैं। पेरिस से लॉर्ड फ़्लिच कविता द्वारा लिखते हैं कि हे भारत माता! हम तेरे पुत्र हैं, तू हमें सहायता दे। तेरी सहायता और सहानुभूति के लिए हम टकटकी लगाये हुए हैं। हमारा मार्ग अशान्त और कष्टमय है। हम तेरे पुत्र हैं। तू हमारे आविर्भाव से पहले ही उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी है। हम तेरे असली वैदिक पुत्र हैं, हम तेरी ही सहायता से संसार में उन्नति कर सकते हैं, अतएव हे भारत माता! तू हमें सहायता दे[१]।

संसार में फैले हुए समस्त मत-मतान्तरों की आलोचना करता हुआ, एक विद्वान् Indian World नामक पत्र में कहता है कि आगामी धर्म वैदिक धर्म ही होगा। अब संसार ईमान के दुर्ग से निकलकर बुद्धि और तर्क की ओर चल रहा है। जब तक मज़हबी सिद्धान्त को तत्त्वज्ञान (Philosophy) पुष्ट न करे, तब तक वह स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि तर्क अपने ही सहारे पर खड़ा होता है। चाहे संसार का भूत इतिहास कैसा ही क्यों न हो, भविष्यत्काल तो बुद्धि और तर्क का ही है। ज्योंही अँधाधुन्ध विश्वास और ईमान का स्थान तर्क और दलील ने लिया त्योंही संसार के आनेवाले धर्म का प्रश्न हल हो जाएगा। तर्क के सम्मुख कोई करामात, चमत्कार अथवा कोई भी ख़ुराफ़ात, जो सृष्टि के विरुद्ध हो, नहीं ठहर सकती। तर्क सब प्रकार की पूजा की विधियों को हटा देगा। केवल वही पूजा-उपासना रह जाएगी जो बुद्धि के अनुकूल होगी।

---

1. Oh India! will you not help us?
Be patient with us, India!
Remember we are your children
You are old and learned and wise before we existed.
Our path is steep and thorny. Help us, Mother India!
We, your real Vedic children, are turning our gaze to our motherland together
We can become the great regenerating and moralising force of this world. —*By Lourd Flinch, Paris.*

आगामी धर्म में सदाचार का अधिक गौरव होगा और वह अधिकांश हिन्दूधर्म के आदर्शों के अनुसार ही होगा। यदि ईसाईमत से चमत्कारों को निकाल दिया जाए तो इसके खड़े होने के लिए पाँव नहीं रहते, परन्तु यदि हिन्दूधर्म से मूर्त्तिपूजा हटा दी जाए तो वह बुद्धि और तर्क के अनुकूल बन जाता है, वैदिक धर्म का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है और संसारभर के मानने योग्य हो जाता है।

यूरोप के लोग केवल बातें ही नहीं बनाते, प्रत्युत उन लोगों ने वैदिक ऋषियों का-सा जीवन बनाना भी आरम्भ कर दिया है। यहाँ हम उसका एक नमूना देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। २१ अक्टूबर १९२८ के गुजराती नवजीवन में महात्मा गाँधी लिखते हैं कि 'ऋषियों का आश्रम' शीर्षक निम्नलिखित एक लेख दीनबन्धु एण्ड्रयूज ने यूरोप से भेजा है, जो यंग इण्डिया में छपा है। उसमें उन्होंने जर्मनी के मार्बर्ग नामक शहर में स्थापित विद्यापीठ को 'ऋषि आश्रम' के नाम से लिखा है। इसमें ऋषिजीवन बितानेवाले एक बुज़ुर्ग अध्यापक का वर्णन है जो जानने योग्य है। मार्बर्ग विद्यापीठ में वेदों की शिक्षा की बहुत ऊँची स्थिति है। इन पठन-पाठन करनेवाले अध्यापकों के जीवन पर वेदों ने इतनी गहरी छाप डाली है कि वे लोग ऋषियों के-से आचार का पालन करते हैं। इन अध्यापकों में अध्यापक ओटो प्रधानाध्यापक हैं। यद्यपि मैं थोड़े समय के ही लिए अध्यापक ओटो का अतिथि हुआ, परन्तु इससे मुझे बड़ा आनन्द मिला। अध्यापक ओटो बालब्रह्मचारी हैं। उन्होंने शादी नहीं की। अपना समस्त जीवन वेदाभ्यास में ही बिताया है। उनके बाल सफ़ेद हो गये हैं। उनकी बहिन जिसकी उम्र लगभग उनके ही बराबर है, उनके घर का प्रबन्ध करती है। मुझे तो वह माता के समान ही लगी, क्योंकि उसने माता के समान ही मेरा आतिथ्य किया। अध्यापक ओटो भारत में कई बार आ चुके हैं। उन्होंने जब-जब भारतवर्ष के सम्बन्ध में बीतचीत की तब-तब उनके चेहरे पर आनन्द छा गया। इससे मैं उनका भारत के प्रति प्रेम देख सका। भारत में रहने से उनकी तबीयत ख़राब हो गई है। सन् १९१२ में उनको मलेरिया हुआ, जो अब तक निर्मूल नहीं हुआ है। गत वर्ष वे भारत में आये थे, परन्तु बीमारी ने ऐसा जकड़ा और इतने दिन बीमार पड़े रहे कि अब तक ठीक नहीं हुए, तथापि उनको भारत का स्वप्न तो आया ही करता है। भारत की सभ्यता का अध्ययन उन्होंने बड़ी बारीकी से किया है। उन्होंने हिन्दूधर्म का गहरा अध्ययन करने के लिए वेद, उपनिषद् और गीता को पढ़ा है। इतना ही नहीं, परन्तु पुराणों को भी पढ़ा है और हिन्दूधर्म की आधुनिक स्थिति की भी जाँच की है। उनका भारत की सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान देखकर तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपना समस्त जीवन संशोधन में ही बिताया है। संस्कृत उनके लिए मातृभाषा के समान है और आवश्यकता पड़ने पर वे संस्कृत में बातचीत कर सकते हैं।

इसके आगे महात्मा गांधी कहते हैं कि 'यह तो मैंने एक ही ऋषि के चित्र का अनुवाद दिया है। मैं तो कहता हूँ कि हम लोगों को शर्म के साथ स्वीकार करना चाहिए कि यूरोप में और विशेषकर जर्मनी में रहनेवाले कितने ही विद्वान् जिस भाव से, जिस प्रयत्न से और जिस सत्यशीलता से वेदादि ग्रन्थों का अनुशीलन करते हैं, वह आज यहाँ प्रायः लुप्त-सा ही हो गया है। ऋषिजीवन का अनुकरण तो बहुत ही कम देखने में आता है। केवल अध्ययन के लिए ही बिना आडम्बर के सहज ही ब्रह्मचर्य का पालन आज यहाँ कहाँ दिखलाई पड़ता है? अपने भाई का साथ देने के लिए बहिन कुमारिका रहे और भाई के घर का प्रबन्ध करे, यह कैसी हर्ष उत्पन्न

करनेवाली और पवित्र वायुमण्डल बनानेवाली बात है। कितने ही दिन पूर्व अमेरिका के एक अध्यापक ने 'बम्बई टाइम्स' में अपने अनुभव का वर्णन किया था। वह भी संस्कृतज्ञ है। वह लिखता है—

मैं भारत में बड़ी आशा करके आया था, परन्तु यहाँ आने के बाद, अनुभव प्राप्त करने पर, संस्कृत के पण्डितों से मिलने पर, निराश हो गया। इसके लेख में अतिशयोक्ति है, जल्दी में बनाये गये विचार हैं और यहाँ पर बसनेवाले यूरोपनिवासियों के संसर्ग का स्पर्श है। यह सब निकाल देने पर भी जो कुछ रह जाता है, उसमें मैंने सत्यांश देखा और लज्जित हुआ। हममें सच्ची धर्मजागृति हो और प्राचीन संस्कृति में जितना सत्य, शिव और सुन्दर हो उसको संग्रह करने की रुचि हो तो हमारी स्थिति आज भिन्न ही हो। ऋषि लोग निर्भय होकर अरण्य में रह सकते थे और ब्रह्मचर्य उनके निकट सहज वस्तु थी, परन्तु आज हम शहरों में भी निर्भयता से नहीं रह सकते। ब्रह्मचर्य अद्भुत वस्तु प्रतीत होती है। परिश्रम से ढूँढने पर भी कोई शुद्ध ब्रह्मचारी नहीं मिलता, ब्रह्मचारिणी तो भला कहाँ से मिले! किसी समय यह ऋषियों का स्थान था, किन्तु ऋषि लोगों ने तो अब यूरोप के कोने-कतरे में जहाँ-तहाँ वास करना शुरू किया है। इस लेख का यह अभिप्राय नहीं है कि कोई जर्मनी या दूसरे स्थान में जाकर ऋषि बनने का प्रयत्न करे। यदि कोई ऐसा करे भी तो वह निष्फल होगा। कोई भारतवासी जर्मनी में जाकर ऋषि बन सकेगा यह मेरी कल्पना में भी नहीं आ सकता। भारतीय को तो भारत में रहकर ही अध्यापक ओटो की भाँति ऋषिसंस्था का पुनरुद्धार करना चाहिए। ऐसा कहा जा सकता है कि इस ओर आर्यसमाज ने महान् प्रयत्न किया है, परन्तु यह समुद्र में बिन्दु के समान है। इस प्रकार का जब बहुत बड़ा प्रयत्न होगा तभी हमको प्राचीन सभ्यता की गुमी हुई चाबी प्राप्त होगी'।

ये हैं गहरे विचारवान् विद्वानों के हृदय के उद्गार—ये हैं त्रसित आत्माओं के उपाय जिनके द्वारा वे संसार का दुःख दूर करना चाहते हैं और ये हैं वे विचार जो वर्त्तमान भौतिक उन्नति से तङ्ग आकर समझदार मनुष्यों के मस्तिष्क में चक्कर काट रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस ज़माने में किसी को भी चैन नहीं है। धनी-निर्धन, रोगी-नीरोगी, राजा-रंक तथा मूर्ख और विद्वान् कोई भी ऐसा नहीं है जो सन्तुष्ट हो। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान और उससे उत्पन्न हुई अशान्त बुद्धि ने संसार को इतना अस्वाभाविक बना दिया है कि कहीं सुख-शान्ति की छाया तक देखने को नहीं मिलती। इसलिए मान लेना चाहिए कि ऊपर कहे गये समस्त लेखकों ने दुःखों के कारण और उन दुःखों को दूर करने के उपायों के ढूँढने में अच्छा परिश्रम किया है और उनको सफलता भी मिली है, तथापि उसमें कई त्रुटियाँ हैं। यहाँ हम नमूने के लिए दो-तीन का उल्लेख करते हैं।

सबसे प्रथम और बड़ी त्रुटि यह है कि प्रकृति की ओर लौटानेवालों ने मनुष्य को एक प्रकार का पशु मान लिया है, जिसे प्रकृति के नियम पालन करने पर विवश करते हैं। मनुष्य में यदि ज्ञानस्वातन्त्र्य न होता तो निःसन्देह वह प्राकृतिक नियमों में आबद्ध किया जा सकता, परन्तु उसके विचारस्वातन्त्र्य ने उसे प्रकृति में हस्तक्षेप करने का अधिकारी बना दिया है। इसलिए वह पशु-पक्षियों की भाँति प्राकृतिक नियमों से बाँधा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए आहार और विहार (रति) समस्त प्राणियों में एकसमान ही पाये जाते हैं, परन्तु मनुष्यों में वे बिलकुल ही विलक्षण देखे जाते हैं। गाय, भैंस, बकरी आदि को जब ऋतुधर्म होता है तब उनमें गर्भाधान के लिए एक विलक्षण व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस व्याकुलता को साँड, भैंसा, बकरा आदि तुरन्त

ही जान लेते हैं और गर्भ स्थापन कर देते हैं। जिन मादा पशुओं को आवश्यकता नहीं है, उनके नर उनकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करते, किन्तु मनुष्य में यह बात बिलकुल नहीं पाई जाती। न तो ऋतुमती स्त्री को ही कोई विलक्षण व्याकुलता होती है न पुरुष को उसके गन्ध, रूप, स्पर्श आदि से उसकी इच्छाओं का भान होता है और न समीप जाने पर उत्तेजना ही होती है। यदि ऐसा होता तो संसार की समस्त सामाजिक व्यवस्था ही बिगड़ जाती। ऐसी दशा में मनुष्य रति-विषयक नियम प्रकृति के सहारे पर नहीं बना सकता। उसे तो इतने दिन ऋतु के छोड़कर और इतने-इतने दिन अन्य तिथियों के छोड़कर केवल अमुक दिन अमुक समय हो, आदि नियम बनाने पड़ेंगे, जो बिलकुल उसके विचारों से ही सम्बन्ध रखते हैं, प्रकृति से नहीं।

जो अवस्था विहार की है, उससे भी अधिक जटिल समस्या आहार की है। संसार में देखते हैं कि जो पशु मांस खाता है वह घास नहीं खाता और जो घास खाता है वह मांस नहीं खाता, किन्तु मनुष्य फल, दूध, अन्न और मांस आदि सभी कुछ खा जाता है। यहाँ तक कि वह मिट्टी भी खाने लगता है। आहार के लिए प्रकृति उसे बिलकुल सहायता नहीं देती। वह नहीं बतलाती कि उसका निजी भोजन क्या है। उसे तो अपनी ओर से ही दाँत, आँत और मेदा आदि की देखभाल करके निश्चित करना पड़ता है कि मनुष्य का भोजन क्या है? जीवन के इन दोनों प्रधान विषयों में मनुष्य बिना अपने निर्धारित नियमों के, प्रकृति की प्रेरणा से कुछ भी नहीं कर सकता, इसलिए केवल प्रकृति की पुकार करने से ही काम नहीं चल सकता। प्रत्युत यह जानने की आवश्यकता होती है कि यथार्थ में हमें अपना आहार-विहार किस प्रकार बनाना चाहिए।

दूसरी त्रुटि यह है कि जो रहन-सहन प्रकृति की ओर लौटानेवाले विद्वानों ने बतलाया है, वह कुछ विशेष व्यक्तियों के पालन करने योग्य है, किसी देश या जाति के लिए नहीं, क्योंकि इस प्रकार के सीधे-सादे नियमों के पालन करनेवाला व्यक्ति या समाज दुष्टों से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। भारतवर्ष इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। आँख के सामने एक सहस्र वर्ष से सीधे-सादे हिन्दुओं को विदेशी कुचल रहे हैं, इसलिए इन विद्वानों को यह भी बतलाना चाहिए था कि प्रकृति के अनुसार वर्त्तनेवाले सीधे-सादे मनुष्य दुष्ट और आसुरी सम्पत्तिवालों के हाथ से कैसे बच सकेंगे?

तीसरी त्रुटि है आदिम अवस्था की जाँच की। प्रकृति की ओर इशारा करनेवाले विद्वान्, मनुष्य के रहन-सहन का सच्चा साँचा ढूँढने के लिए मनुष्य की आदिम अवस्था की जाँच करते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में सच्चे रहन-सहन के साथ था। हम भी कहते हैं कि ठीक है, था, परन्तु प्रश्न तो वही उपस्थित है कि आदिम अवस्था में वह अपने लिए आजकल की ही भाँति आहार-विहार के नियम सोच-विचार कर निश्चित करता था या पशु-पक्षियों की भाँति उसे प्रकृति स्वयं वैसा करने के लिए विवश करती थी। हम देखते हैं कि आज प्रकृति उसे कुछ भी शिक्षा नहीं देती, अतः आदिम अवस्था में भी यही हाल रहा होगा। मनुष्य और पशु में अन्तर ही यह है कि मनुष्य के पास सोच-विचारकर बनाये हुए कुछ नियम अवश्य होंगे जो आजतक पाये जाते हैं, परन्तु इन विद्वानों ने उन नियमों के ढूँढने की कुछ भी चेष्टा नहीं की। सम्भव है कोई विद्वान् इस प्रश्न का यह उत्तर दे कि आरम्भ में मनुष्य में प्रकृति के नियमों के पालन करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति उसी प्रकार थी, जिस प्रकार पशुओं में है तो हम नम्रतापूर्वक निवेदन करेंगे कि वह मनुष्य पशु ही था, मनुष्य नहीं। उसका मनुष्य नाम तो

मनन, अर्थात् स्वतन्त्र चिन्तन से ही पड़ा है। मनुष्यजाति के नियम बड़े विलक्षण हैं। उसके समस्त नियमों में मर्यादा है और मर्यादा में अपवाद है। शेष जितने प्राणी हैं उनके लिए प्राकृतिक नियम निश्चित हैं। वे उनको तोड़कर अपवाद नहीं कर सकते, परन्तु मनुष्य अपने नियमों को मर्यादित करता है और उस मर्यादा में ही अपवाद भी रखता है। मनुष्य के आहार और विहार आदि में मर्यादा और अपवाद दोनों पाये जाते हैं, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जो नियम निकाले गये हैं उनमें केवल पशुदशा पर ही प्रकाश डाला गया है, प्राकृतिक जीवन पर ही ज़ोर दिया गया है, मर्यादा और अपवाद पर नहीं। यूरोपवालों में यह त्रुटि है कि वे जब भौतिक उन्नति की ओर झुके तब उसका अन्त कर दिया और जब प्रकृति की झुके तो पशुओं की भाँति जंगलों में नंगे रहने लगे। उनको सामञ्जस्य उत्पादक मानवी नियम सूझते ही नहीं। यद्यपि पाश्चत्यों का ध्यान भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति की ओर भी आकर्षित हो रहा है। आर्यसभ्यता की खोज वे बड़े यत्न से कर रहे हैं, खोज ही नहीं करते प्रत्युत वैसा ही जीवन बनाने का भी प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु अब तक आर्यसभ्यता के मूल सिद्धान्त (१) आरम्भिक ज्ञान (२) मर्यादित नियम और (३) अपवादों की व्यवस्था—की ओर उनका ध्यान नहीं गया। भारत की वैदिक आर्यसभ्यता न तो जंगली मूर्ख असभ्यों की-सी है और न वर्त्तमान भौतिकवादी पाश्चात्यों की-सी। वह अपने ढंग की निराली है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समस्त मानव तथा प्राणिसमूह को एक समान ही लाभ पहुँचाने का आयोजन है, अतः जब तक उसकी आरम्भिक ज्ञानावस्था, मर्यादा और अपवाद की त्रिपुटी पूर्ण रीति से स्वीकार न कर ली जाए तब तक संसार की कोई भी व्यवस्था चिरस्थायी नहीं हो सकती। समाज चाहे जितना उत्तम बनाया जाए, उसमें अपवाद रूप से दुष्ट मनुष्य अवश्य पैदा हो जाएँगे। इसीलिए मर्यादित नियमों में अपवाद नियम अवश्य बनाने पड़ेंगे, फिर चाहे वे आहार, विहार, समाज, युद्ध, राज्य, प्रेम और दया आदि किसी विषय से सम्बन्ध रखते हों।

आदि सृष्टि में ऐसे ही नियम थे, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ये आदिम नियम ऐसी वस्तु नहीं है कि जो वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला या दार्शनिकों के विचारों से निकल पड़ें। इन नियमों का पता तो आर्यों के इतिहास से ही लग सकता है कि आदि सृष्टि में मर्यादा और अपवाद, अर्थात् धर्म और आपद्धर्म की क्या व्यवस्था थी। हमारा दावा है कि वेद ही आदि सृष्टि (आरम्भिक अवस्था) का ईश्वरीय क़ानून है। वेदों में सदैव के लिए मर्यादित धर्म और अपवादों के लिए आपद्धर्म का वर्णन है, अतः जो कुछ वेदों में कहा गया है मनुष्यजाति को उसी के अनुसार व्यवहार करने से लाभ हो सकता है, प्रकृति के अनुसार नहीं। इसलिए इस उपक्रम के पश्चात् आगे के प्रकरणों में अब हम देखेंगे कि वेद कितने प्राचीन हैं, किस प्रकार अपौरुषेय हैं और उनमें मनुष्य के लिए मर्यादा और अपवाद, अर्थात् धर्म और आपद्धर्म की क्या व्यवस्था है।

—:(०):—

ओ३म्

वैदिक सम्पत्ति

प्रथम खण्ड

वेदों की प्राचीनता

इस पुस्तक के उपक्रम से यह बात स्पष्ट हो रही है कि यूरोप के विचारवान् वर्त्तमान भौतिक उन्नति से सन्तुष्ट नहीं हैं, प्रत्युत मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति की खोज में है। उन्होंने यह बात निश्चित कर ली है कि मनुष्य अपनी उत्पत्ति के समय स्वाभाविक स्थिति में था और सुखी था, परन्तु वह स्वाभाविक स्थिति कैसी थी, ज्ञानयुक्त थी या ज्ञानहीन, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। केवल अनुमान के सहारे कहा जाता है कि वह स्वाभाविक दशा थी, प्राकृतिक स्थिति थी और सबका व्यवहार प्रकृति के अनुसार था, परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रकृति का मनुष्य के साथ वह सम्बन्ध नहीं है जो पशुओं के साथ है, इसलिए उसकी स्थिति सर्वथा ही प्रकृति के सहारे नहीं रह सकती। इसका कारण यही है कि मनुष्य पशु नहीं, किन्तु ज्ञानवान् जीव है, अतः उसे प्रकृति के बाह्यांश से कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती। उसे तो प्रकृति के आन्तरिक और बौद्धिक अंश से ही ज्ञान का स्पष्ट उपदेश होता है तभी वह बुद्धिपूर्वक अपनी स्थिति बना सकता है और सुखी रह सकता है, इसीलिए आर्यों का विश्वास है कि आदिसृष्टि के समय, अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के साथ ही मनुष्य को परमात्मा की ओर से ज्ञान की प्रेरणा हुई। वही ज्ञान वेद है, परन्तु वेदों की इतनी लम्बी प्राचीनता पर—उनकी आदिकालीनता पर, अपौरुषेयता पर, अनेक विद्वानों का विश्वास नहीं है। वे कहते हैं कि वेदों में जिन ऐतिहासिक नामों का उल्लेख पाया जाता है और ज्योतिष्सम्बन्धी जिन घटनाओं के संकेत पाये जाते हैं उनसे वेदों का समय मिस्र की सभ्यता से भी कम सिद्ध होता है, किन्तु हम देखते हैं कि इस आरोप में कुछ भी दम नहीं है, क्योंकि वेदों में ऐतिहासिक अथवा ज्योतिष्सम्बन्धी किसी भी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं है, जिससे वेदों की आदिमकालीनता पर यह आक्षेप किया जा सके। रही मिस्र की सभ्यता, वह तो बहुत ही अर्वाचीन है।

मिस्र की सभ्यता

'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ़ दि वर्ल्ड' में मिस्र की भूमि की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि 'मिस्र की भूमि प्रति एक शत वर्ष में पाँच इञ्च के हिसाब से नील नदी के द्वारा मिट्टी एकत्र करती है। इस समय तक मिट्टी का जो सबसे बड़ा स्तर एकत्र हो रहा है उसकी मोटाई २६ फ़ुट से ६२ फ़ुट तक है, अतः ३५ फ़ुट का औसत मानने से यह ज़मीन ६,००० वर्षों में इतनी मोटी हो पाई होगी, किन्तु इससे भी अधिक उसे १०,००० वर्ष की मानना चाहिए। इसके पहले वहाँ पूर्णरूप से मैदान ही था और बुशमैनों की प्रकार के जंगली मनुष्य वहाँ रहते थे।......मिस्र का लिखित इतिहास वहाँ के प्रथम राजवंश से आरम्भ होता है जो ईस्वी सन् पूर्व ५,५०० तक जाता है और

छठे, बारहवें तथा अठारहवें राजवंश से मिल जाता है। इस लिखित इतिहासकाल के पूर्व का समय नहीं कहा जा सकता कि वह और कितने समय पूर्व तक जाता है"[१]।

इसका तात्पर्य यह है कि मिस्र की भूमि केवल १०,००० वर्ष की पुरानी है। वहाँ की लिखित सभ्यता तो वहाँ के प्रथम राजवंश से ही आरम्भ होती है जो केवल (५५००+१९२९=) ७४२९ वर्ष प्राचीन सिद्ध होती है। इसके पूर्व का समय अन्धकार में है, अत: वहाँ की सभ्यता का साधक-बाधक नहीं है, अतएव वहाँ की सभ्यता जो लिखित प्रमाणों से सिद्ध होती है वह ७४२९ वर्ष की प्राचीन है और हमें मान्य है, किन्तु हम देखते हैं कि भारतीय आर्यों की लिखित सभ्यता इससे बहुत अधिक प्राचीन प्रमाणित होती है, क्योंकि सभी इतिहासप्रेमी जानते हैं कि भारत के अन्तिम सम्राट् राजा चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनान का राजदूत मेगस्थनीज़ रहा करता था और उसने राज्य के पुस्तकालय से एक वंशावली प्राप्त की थी जिसे उसने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया था। इसी प्रकार उस वंशावली को ओरायन ने भी लिखा था। इस वंशावली के विषय में मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि इसमें बकस के समय से अलगज़ेंडर—चन्द्रगुप्त के समय तक १५४ राजाओं की गणना है, जिनके राज्यकाल की अवधि ६४५१ वर्ष तीन मास है। ओरायन इतना और कहता है कि इस अवधि में तीन बार प्रजासत्तात्मक राज्य भी स्थापित हुए थे। इस वर्णन को कई एक विद्वानों ने कुछ मतभेद के साथ अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है[२]। यह वर्णन सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय का है। चन्द्रगुप्त को हुए आज तक २२५० वर्ष हो चुके। अतएव दोनों समयों को मिलाने से (६४५१+२२५०=) ८७०१ वर्ष होते हैं जो मिस्र की सभ्यता से (८७०१-७४२९=) १२७२ वर्ष अधिक होते हैं। यदि मिस्र के पहले राजा से बारह सौ वर्ष पूर्व तक भी

---

१. The accumulations of desposit is about 5 inches in a century (4.7 at Naukratis, 5.1 at Abusis, 5.5 at Cairo); and the depth of it is not less than 26 ft., and varies in different places down to 62 ft. The lower depths are, however, often mixed with sand beds, and do not show the continuous mud-deposit, hense the average depth of 39 ft., is too large, and if we accept 35 ft, it will certainly be a full estimate. At the average rate of deposit, this would be formed in 6,000 years. But on the other hand, the deposit may have been slower at the beginning and hence the age would be earlier. Also, the full depth may be greater, owing to some borings hitting on ground which was originaly above the river. Hence the extreme limits of age of Nile-deposit in different positions are perhaps 7,000 to 15,000 years, and probably about 10,000 years may be a likely age for the beginning of continuous Nile mud stratification. Hence it is clear that the start of the civilisation was about contemporary with the first cultivable ground. Thus it would seem that Egypt. as an almost desert region, before the formation of the cultivable mud-flats, was the last home on the Mediterranean of the hunters who continued in the Palaeolithic stage. The physical type of the figure which we can attribute to this earlist population has the Bushman characteristics of fatness of the thighs and hips with a deep lumbar curve......The written history extends back to the first dynasty, and places that at 5,500 B. C., and this is checked at the sixth, twelth, and eighteenth dynasties by records of the rising of Sirius, and of the seasons in the shifting year, which agree to this dating in general. For the length of the prehistoric age before these written records there is no exact dating.

—*Harmsworth History of the World, p. 233-234.*

२. Magasthenes, the envoy of Alexander to Kandragupso (Chandragupta), king of the Gangarides, discovered chronological tables at Polybhottra, the residense of this king, which contain a series of no less than 153 kings, with all their names from Dionysius to Kandragupso, and specifying the duration of the reign of every one of those kings, together amounting to 6,451 years, which would place the reign of Dionysius nearly 7,000 years B. C., and consequently 1,000 years before the old king found in the Egyptian tables of Manetho (viz., the head of the Tinite Thebaine dynasty) who reigned 5,867 years B. C., and 2,000 years before Saufi, the founder of the Gizeh Pyramid.

—*Theogony of the Hindus by Court Bjornstjerna, p. 45.*

वहाँ की सभ्यता को मान लें तो भी वह यहाँ की सभ्यता से प्राचीन नहीं हो सकती। इसी प्रकार एक दूसरे ऐतिहासिक प्रमाण से भी आर्यों की लिखित सभ्यता ८००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। इतिहास के पढ़नेवाले जानते हैं कि 'दबिस्तान' नामक लेख जो कशमीर में मिले हैं उनमें बेक्ट्रिया में राज्य करनेवाले हिन्दू राजाओं की नामावली लिखी है। यह नामावली सिकन्दर तक ५६०० वर्ष की प्राचीन सिद्ध होती है[१]। इन राजाओं के लिए मिल महोदय ने लिखा है कि ये राजा निश्चय ही हिन्दू थे[२]। इससे भी मिस्र की सभ्यता भारत की सभ्यता से प्राचीन सिद्ध नहीं होती, किन्तु अर्वाचीन ही सिद्ध होती है।

ऊपर मेगस्थनीज़ द्वारा उद्धृत जिस वंशावली का उल्लेख किया गया है, वह कितनी सही थी, इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि उसमें महीने तक भी दिये हुए हैं। इसके अतिरिक्त उसमें यहाँ चरितार्थ हुई तीन बार की प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली का भी वर्णन है, जिससे एक तो यह बात अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाती है कि उस वंशावली के समस्त राजा इसी देश में हुए हैं। ऐसा नहीं है कि आर्यों के कहीं बाहर से आने का भी समय उसी में मिला हो, दूसरे प्रजासत्तात्मक जैसी उदार नीति का भी पता मिलता है, जिससे आर्यों की तत्कालीन उच्च सभ्यता में कोई शंका नहीं रह जाती। मिस्र की सभ्यता के लिए विद्वानों के हृदय में जो स्थान है वह वहाँ के पिरामिडों और उनमें रक्खी हुई ममी (मुर्दों) के ही कारण है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि उनकी इस सभ्यता में भी भारतीय आर्यों का सहयोग है। मिस्र के इन मुर्दों में जो नील का रंग लगा हुआ है और इन मुर्दों को गाड़ने में इमली की लकड़ी काम में लाई गई है वे दोनों पदार्थ वहाँ इसी देश से गये हैं। नील और इमली भारत के सिवा संसार में और कहीं होती ही नहीं, इसीलिए नील को इण्डिगो कहते हैं, जिसका अर्थ भारतीय होता है और इमली को टेमेरिण्ड कहते हैं, जो तमरेहिन्द का अपभ्रंश है।

इस नील रंग का व्यापार मिस्र की जिस नदी के द्वारा होता था उसे भी यहाँवाले नील ही कहते थे जो वहाँ नाइल के नाम से अब तक प्रसिद्ध है। जायसवाल महोदय कहते हैं कि भारतवासी नील नदी को जानते थे। हम कहते हैं कि यहाँवाले नील नदी को जानते ही न थे, प्रत्युत उन्होंने ही उसका नामकरण भी किया था[३]। इसलिए मिस्र की सभ्यता भारतीय आर्यों की सभ्यता से प्राचीन नहीं प्रत्युत वह भारतीय इतिहास के अन्तिम राजवंश से भी नवीन है। ऐसी दशा में उस सभ्यता की तुलना वेदों के समय के साथ नहीं हो सकती। वेद तो आर्यों के प्रारम्भिक इतिहास से भी पूर्व के हैं, अतएव वे न केवल मिस्र की सभ्यता से ही प्रत्युत संसार

---

१. The Bactrian document, called Dabistan (found in Kashmir and brought to Europe by Sir W. Jones) gives an entire register of kings, namely, of the Mahabadernes, whose first link reigned in Bactria 5,600 years before Alexander's expedition to India and consequently several hundred years before the time given by the Alexandrine text for the appearance of the first man upon the earth.
—*Theogony of the Hindus by Court Bjornstjerna, p. 134.*

२. That these Bactria kings were Hindus is now universally admitted.
—*Mill's History of India, Vol.II, p. 237, 238.*

३. The Greek and Roman name Neilos is certainly not traceable to either of Egyptain names of the river, nor does it seem philologically connected with the Hebrew ones. It may be like *schishor* Indicative of the colour of the river, for we find is Sanskrit Nila 'blue' probably especially 'dark-blue' also even black, as nilapanka 'black mud'.
—*Ency. Brit., Vol. VII, p. 705.*

की समस्त मानवीय सभ्यताओं से भी अधिक प्राचीन हैं, परन्तु जो लोग वेदों से इतिहास और ज्योतिष्-सम्बन्धी वर्णनों को निकालकर वेदों को नवीन सिद्ध करना चाहते हैं, उनके मत की भी आलोचना कर लेना आवश्यक है।

वेदों में ऐतिहासिक वर्णन

वेदों में ऐसे शब्दों को देखकर जो पुराणों में ऐतिहासिक पुरुषों, नदियों और नगरों के लिए व्यवहृत हुए हैं, प्राय: विद्वान् कहते हैं कि वेदों में इतिहास है और उस इतिहास का क्रम पुराणों में दी हुई वंशावलियों के साथ बैठ जाता है। वे कहते हैं कि वेद में आये हुए ऐतिहासिक राजाओं की पौराणिक वंशावली में देखकर और २०-२५ वर्ष की पीढ़ी मानकर वेद का काल निश्चित किया जा सकता है जो ज्योतिष् के द्वारा निकाले गये समय के साथ मिल जाता है। भारतवर्ष का इतिहास प्रथम खण्ड के पृष्ठ ५५ पर श्रीमान् मिश्रबन्धु कहते हैं कि 'विलसन ने वैवस्वत मनु के पुत्र इक्ष्वाकु का समय ३५०० ईस्वी सन् पूर्व माना है। वेदों के अवलोकन से विदित होता है कि उनमें रामचन्द्र के पूर्वपुरुष सुदास का यदु, तुर्वसु और मनु के वंशजों के साथ युद्ध वर्णित है।

सुदास रामचन्द्र से ११ पीढ़ी पहले हुए थे, अत: इन दोनों का अन्तर प्राय: ३०० वर्ष का था, अत: यह समय २४५० विक्रम पूर्व का पड़ता है। सुदास के पश्चात् किसी सूर्यवंशी राजा का वर्णन वेदों में नहीं है। उधर स्वयं चाक्षुष मनु, वैवस्वत मनु और ययाति वैदिक ऋषियों में थे। वैवस्वतमनु का समय ऊपर ३८०० विक्रमपूर्व लिखा जा चुका है। चाक्षुष मन्वन्तर के ठीक पहले का होने से ४००० विक्रम पूर्व का माना जा सकता है, अत: पौराणिक कथनों का वैदिक वर्णनों से मिलान करने पर प्रकट होता है कि २५०० से ४००० विक्रम पूर्व तक के कथन वेदों में हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि तिलक महाशय ने ज्योतिष् के आधार पर वेदों का समय ४००० विक्रम पूर्व से २५०० विक्रम पूर्व तक माना है। हम देखते हैं कि वही समय पौराणिक वर्णनों से भी निकलता है'। इस वर्णन में पौराणिक वंशावली के साथ वेदों के शब्दों और लोकमान्य तिलक महाराज के ज्योतिष् के निष्कर्ष का सामञ्जस्य किया गया है, परन्तु इस सामञ्जस्य में दो दोष हैं। एक तो पौराणिक वंशावलियाँ आनुपूर्वी राजाओं की वंशावलियाँ नहीं हैं, किन्तु प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं की नामावलियाँ हैं, दूसरे वेदों में ऐतिहासिक राजाओं का वर्णन नहीं है और न वेदों में किसी ज्योतिष की ही घटना का उल्लेख है। ऐसी दशा में वेदों से वेदों का कोई समय निश्चित नहीं हो सकता। वेदों से इस प्रकार का समय निश्चित करने का अवसर प्राय: पुराणों ने ही दिया है, क्योंकि पुराणों ने नामावलियों को वंशावली बनाकर और वैदिक अलंकारों को राजाओं के इतिहासों के साथ जोड़कर उपर्युक्त झंझट फैला दिया है, अत: हम यहाँ पहले देखना चाहते हैं कि क्या ये वंशावलियाँ सही हैं और फिर देखना चाहते हैं कि क्या वेदों में किसी इतिहास या ज्योतिषघटना का उल्लेख है?

पुराणों में जो वंशावलियाँ दी हुई हैं उनके दो विभाग हैं। पहला विभाग महाभारत युद्ध से उस पार का है और दूसरा विभाग इस पार का। पहला विभाग वंशावली नहीं प्रत्युत नामावली है और दूसरा विभाग वंशावली है, अत: हम यहाँ पहले विभाग की पड़ताल करते हैं।

१. पहले विभाग की वंशावली के नामों की संख्या निश्चित नहीं है। प्रत्येक पुराण में अलग-अलग संख्या दी हुई है। विष्णुपुराण में मनु से लेकर महाभारतकालीन बृहद्बल तक ९२

पीढ़ी, शिवपुराण में ८२ पीढ़ी, भविष्यपुराण में ९१ पीढ़ी और भागवत में ८८ पीढ़ी लिखी हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये वंशावली नहीं प्रत्युत नामावली हैं।

२. महाभारत के प्रथम अध्याय में सूक्ष्म और विस्तार के नाम से पास-ही-पास दो वंशावलियाँ दी हुई हैं। ये वंशावलियाँ भी मनु से लेकर महाभारतकालीन शन्तनु तक ही हैं, परन्तु एक में ३० पीढ़ी और दूसरी में ४३ पीढ़ी के नाम हैं, इससे भी ये नामावलियाँ ही ज्ञात होती हैं।

३. इन वंशावलियों में पिता पुत्र के नामों का भी ठिकाना नहीं है। वाल्मीकि रामायण में दिलीप के भगीरथ, उनके ककुत्स्थ, उनके रघु और रघु की बारहवीं पीढ़ी में अज का होना लिखा है, परन्तु रघुवंश में दिलीप के रघु और रघु के पुत्र अज लिखे हुए हैं। वाल्मीकि के अनुसार रघु दिलीप के प्रपौत्र ठहरते हैं, किन्तु रघुवंश के अनुसार वे पुत्र सिद्ध होते हैं। इससे भी ये नामावलियाँ ही सिद्ध होती हैं।

४. इसी प्रकार महाभारत में नहुष और ययाति चन्द्रवंश में गिनाये गये हैं, परन्तु वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग ७० के श्लोक ३६ में लिखा है कि सूर्यवंशी अम्बरीष के नहुष, नहुष के ययाति और ययाति के नाभाग हुए, इससे भी ये नामावलियाँ ही सिद्ध होती हैं।

५. इन नामावलियों में बीच के सहस्रों नाम छूट गये हैं। इसका उत्कृष्ट प्रमाण सूर्यवंश और चन्द्रवंश के मिलान से मिलता है। सभी जानते हैं कि मनु से सूर्यवंश चला और उन्हीं मनु की इला नामी पौत्री से चन्द्रवंश चला। मनु से इक्ष्वाकु हुए, और इक्ष्वाकु की पुत्री से चन्द्रवंश का मूलपुरुष पुरूरवा हुआ, अर्थात् दोनों वंश एक साथ ही आरम्भ हुए, परन्तु आगे चलकर दोनों की पीढ़ियों में जो घट-बढ़ हुई वह बहुत ही सन्देहात्मक है।

(क) युधिष्ठिर चन्द्रवंश की ५०वीं पीढ़ी पर हुए, किन्तु इनका समकालीन सूर्यवंशी राजा बृहद्बल सूर्यवंश की ९२ वीं पीढ़ी में देखा जाता है।

(ख) परशुराम ने सहस्रार्जुन को मारा था जो चन्द्रवंश की १९वीं पीढ़ी में हुआ था, परन्तु उन्हीं परशुराम के भय से सूर्यवंश का राजा अश्मक जो स्त्रियों में छिपने से नारीकवच भी कहलाता है, सूर्यवंश की ५५वीं पीढ़ी में था।

(ग) विश्वामित्र चन्द्रवंश की १५वीं पीढ़ी पर थे, परन्तु उन्होंने वसिष्ठ के लड़कों को जिस कल्माषपाद राजा के हाथ से मरवा डाला था, वह सूर्यवंश की ५२वीं पीढ़ी में था।

(घ) राजा सुदास सूर्यवंश की ५१वीं पीढ़ी में था, परन्तु इसका युद्ध राजा ययाति के लड़कों से हुआ था, जो चन्द्रवंश की छठी पीढ़ी में थे।

(ङ) भगीरथ सूर्यवंश की ४३वीं पीढ़ी में थे, परन्तु इन्हीं के समय में जिन जह्नु ने गङ्गा का पान कर लिया था, वे चन्द्रवंश की आठवीं पीढ़ी में थे।

(च) सर्वकाम सूर्यवंश की ५०वीं पीढ़ी में था, परन्तु इसने ययाति के पुत्र द्रुह्यु को मारा था जो चन्द्रवंश की छठा पीढ़ी में था। इस प्रकार दोनों वंशों में कोई ३५ पीढ़ी का अन्तर पड़ता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ये वंशावली नहीं, प्रत्युत नामावली हैं।

६. वैवस्वत मनु से दो वंश चलते हैं, एक अयोध्या में दूसरा मिथिला में। अयोध्यावाले वंश के रामचन्द्र इक्ष्वाकु से ६३वीं पीढ़ी पर थे, परन्तु इन्हीं के समकालीन मिथिला के राजा जनक इक्ष्वाकु से १७वीं पीढ़ी पर थे। इससे भी दोनों वंशों में ४६ पीढ़ी का अन्तर पड़ता है।

७. यदि इन पीढ़ियों को सही माना जाए और सूर्य तथा चन्द्रवंश को एक ही समय से चला हुआ माना जाए तो रामचन्द्र सूर्यवंश में मनु से ६३वीं पीढ़ी पर और राजा युधिष्ठिर उन्हीं मनु की पौत्री से चलनेवाले चन्द्रवंश की ५० वीं पीढ़ी पर थे। श्री कृष्णचन्द्र राजा युधिष्ठिर के समकालीन थे ही, ऐसी दशा में वे रामचन्द्र से १३ पीढ़ी, अर्थात् कोई ३२५ वर्ष पूर्व के सिद्ध होते हैं और राम-रावणयुद्ध महाभारत युद्ध के बाद का सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में ये वंशावलियाँ नहीं कही जा सकतीं। ये तो नामावलियाँ हैं और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं का वर्णन करने के लिए एकत्र की गई हैं। चन्द्रवंश का वर्णन करते हुए महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि—

अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः। भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः॥
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः। येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः॥
तेषान्तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत। महाभागान्देवकल्पान् सत्यार्जवपरायणान्॥

— *महाभारत आदि० ७४।१३१-१३३

अर्थात् राजा भरत से पूर्व और पश्चात् देवताओं के समान महाप्रतापी ब्रह्मनिष्ठ राजा भरतकुल में हो गये हैं। वे सब भरत नाम से ही विख्यात थे। उनके असंख्य नाम है, इसलिए गिने नहीं जा सकते। यहाँ तो मुख्य-मुख्य राजाओं का जो देवताओं के समान बड़े भाग्यशाली और सत्य तथा विनय से पूर्ण हो गये हैं, उन्हीं का वर्णन करते हैं।

इसी प्रकार सूर्यवंश का वर्णन करते हुए भागवत में लिखा है कि—

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परन्तप। न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि॥

— *श्रीमद्भागवत ९।१।७

अर्थात् मनु के वंश को अच्छी प्रकार सुनिए, परन्तु विस्तार से तो उसका वर्णन सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता।

यहाँ इच्छा की गई थी कि '**तेषां नः पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वद विक्रमान्**'[१], अर्थात् सबका वर्णन सुनाइए, किन्तु सबका वर्णन अशक्य समझकर कहा गया कि सुनिए! अच्छी प्रकार सुनिए!! पर विस्तार से तो सौ वर्षों में भी नहीं सुनाया जा सकता। इसका तात्पर्य यही है कि प्रधान-प्रधान राजाओं का ही वर्णन किया जा सकता है, सबका वर्णन नहीं। यह सत्य भी है। हमने अभी गत पृष्ठों में जिस चन्द्रगुप्त की वंशावली का उल्लेख किया है वही आज तक नौ हज़ार वर्ष की पुरानी सिद्ध होती है, जो इन वंशावलियों और ज्योतिष् द्वारा निकाले गये ६,००० वर्ष के समय से ड्योढ़ी प्राचीन है। इस प्रकार की वंशावलियों का वर्णन जो किसी वंशविशेष से सम्बन्ध रखता है, पुराणों में भी पाया जाता है। *भागवत ९।१७।७ में लिखा है कि—

'षष्टिवर्षसहस्राणि षष्टिवर्षशतानि च। नालर्कादपरो राजन्मेदिनीं बुभुजे युवा'॥

अर्थात् केवल अलर्क ने ही ६६,००० वर्ष राज्य किया। यह अलर्क किसी वंश का आस्पद प्रतीत होता है। ऐसी दशा में जब एक-एक वंश नौ-नौ हज़ार और छियासठ-छियासठ हज़ार वर्ष राज्य करनेवाला हो चुका है, तब दस-बीस नामों से बनी हुई उलटी-सीधी साधारण सूचियों

१. भा० ९।१।५

* जहाँ * यह चिह्न लगा है, वे सभी पते या शुद्ध किये गये हैं, अथवा उन्हें उन-उन ग्रन्थों से ढूँढकर वहाँ-वहाँ दिया गया है। —जगदीश्वरानन्द

से आर्यों का, मन्वन्तरों का और वेदों का इतिहास निकालना कैसे ठीक हो सकता है? इसलिए पौराणिक वंशावलियों को नामावलियाँ ही समझना चाहिए, क्योंकि पौराणिक वंशावलियाँ जिन प्राचीन नामावलियों के आधार पर बनी हैं, उनके कुछ नमूने अब तक ब्राह्मणग्रन्थों में पाये जाते हैं। *मैत्रायण्युपनिषद् प्रपाठक १ खण्ड ४ में लिखा है कि—

'अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्न-कुवलयाश्वयौवनाश्ववद्ध्र्यश्वाश्वपतिःशशबिन्दुहरिश्चन्द्राऽम्बरीषननक्तुशर्यातिययात्य-नरण्याक्षसेनादयः। अथ मरुत्तभरतप्रभृतयो राजानः'।

यह एक नामावली है, जिसमें सूर्य और चन्द्र दोनों वंशों के राजाओं के नाम आये हैं। ये सब राजा चक्रवर्ती कहे गये हैं, इसीलिए एक स्थान पर संग्रह कर दिये गये हैं। इस प्रकार की दूसरी नामावली ऐतरेयब्राह्मण ७।३४ में लिखी हुई है। उसमें लिखा है कि—

'कावेषयः तुरः साहदेव्यः सोमकः सार्ञ्जयः सहदेवः दैवावृधो बभ्रुः वैदर्भो भीमः, गान्धारो नग्नजित् जानकिः क्रतुवित् पैजवनः सुदासः...सर्वे हैव महाराजा आसुरादित्य इव ह स्म श्रियां प्रतिष्ठितास्तपन्ति सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिमाहरन्ति'।[१]

इसमें भी सार्वभौम राजाओं का उनके देश आदि के साथ उल्लेख किया गया है। इन नामावलियों से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वंशों की, चक्रवर्ती राजाओं की और सार्वभौम राजाओं की बड़ी-बड़ी अनेक नामावलियाँ थीं, जिनको एक में मिला-मिलाकर पौराणिक वन्दीजनों ने वंशावलियों का रूप दे दिया है, इसलिए इनके सहारे आर्यों के इतिहास की वर्षसंख्या नहीं निकल सकती।

रहा दूसरा विभाग जो महाभारत से इस पार का है, उसमें चार वंशावलियाँ बार्हद्रथवंश से आरम्भ होकर नन्दवंश तक की हैं, जो ठीक हैं और वंशावलियाँ ही है, परन्तु वेदों का समय उनसे अथवा आर्यों की किसी भी वंशावली से नहीं निकल सकता, चाहे वह महाभारत के इस पार की हो या उस पार की। इसका सुदृढ़ कारण यह है कि वेदों में इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ भी सामग्री नहीं है।

वेदों में जो ऐतिहासिक सामग्री दिखती है उसका कारण भी पुराण ही हैं। जिस प्रकार नामावलियों को वंशावलियाँ बनाकर पुराणों ने आर्यों के इतिहास की दीर्घकालीनता में सन्देह उत्पन्न करा दिया है, उसी प्रकार वेदों के चमत्कारपूर्ण आलंकारिक वर्णनों को ऐतिहासिक पुरुषों के साथ मिलाकर वेदों में इतिहास का भी भ्रम उत्पन्न करा दिया है। पुराणकारों ने प्रयत्न तो यह किया था कि वेदों के चमत्कारपूर्ण गूढ़ वर्णनों को ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मिलाकर उनका रहस्य ऐसी जनता तक भी पहुँचा दिया जाए जो वेदों की सूक्ष्म बातें नहीं समझ सकती। श्रीमद्भागवत १।४।२९ में लिखा भी है—**'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः'**, अर्थात् पुराणों में भी भारत के इतिहास के मिष से वेदों का रहस्य ही खोला गया है। यही कारण है कि महाभारत में भी स्पष्ट कर दिया गया है कि **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'**,[२] अर्थात् इतिहास-पुराणों से वेदों के मर्म का उद्घाटन करें, परन्तु इस चातुर्य का फल यह हुआ कि लोग

---

१. मुद्रित संस्करणों में इस सन्दर्भ का पता अशुद्ध है और पाठ में आकाश-पाताल का अन्तर है।
२. महा० आदि० १।२६७

वेदों से ही पौराणिक इतिहास निकाल रहे हैं। वे कहते हैं कि वेदों में पुरूरवा, आयु, नहुष, ययाति, वसिष्ठ, जमदग्नि, गङ्गा, यमुना, अयोध्या, व्रज और अर्व आदि नाम हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत वेदों में राजाओं के युद्धों का भी वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि वेदों की यह ऐतिहासिक सामग्री वही है जिसका विस्तार पुराणों में किया गया है, किन्तु इस आरोप में कुछ भी दम नहीं है। इससे वेदों में इतिहास सिद्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि वेदों, ब्राह्मणों और पुराणों के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि संस्कृत के समस्त साहित्य में इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले असम्भव, सम्भवासम्भव और सम्भव तीन प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं, जो तीन भागों में बटे हैं। इसमें जितना भाग असम्भव वर्णन से सम्बद्ध है, वह वेद का है और किसी-न-किसी चमत्कारिक अथवा जातिवाचक पदार्थ से सम्बन्ध रखता है, किसी मनुष्य, नगर, नदी और देश आदि व्यक्तिवाचक पदार्थ से नहीं, परन्तु जितना भाग सम्भवासम्भव और सम्भव वर्णन से सम्बन्ध रखता है वह पुराणों और ब्राह्मणग्रन्थों में ही आता है, वेदों में नहीं। इसका कारण यह है कि कल्पना करो कि वेद ने किसी पदार्थ के लिए कोई चमत्कार वर्णन किया और इधर ब्राह्मणकाल में उसी नाम का कोई मनुष्य हुआ, जिसका चरित्र साधारण मानुषी था। अब कुछ काल बीतने पर किसी कवि ने पुराणकाल में एक कल्पना की और उस कल्पना में दोनों प्रकार के वर्णन मिला दिये, जो आगे चलकर यह सिद्ध करने की सामग्री बन गये कि दोनों एक ही हैं। ऐसी दशा में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कितना भाग ऐतिहासिक है और कितना आलङ्कारिक।

संस्कृत-साहित्य में इस विषय के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। विश्वामित्र और मैनका वेद के चमत्कारिक पदार्थ हैं। इधर दुष्यन्त और शकुन्तला मनुष्य हैं, परन्तु दोनों को एक में मिलाने से भरत को इन्द्र के यहाँ जाना पड़ा। इन्द्र भी चमत्कारिक पदार्थ है। ऐसी दशा में भरत और दुष्यन्त को, मैनका और विश्वामित्र के साथ जोड़कर, यही तो भ्रम करा दिया गया है कि वेदों में भरत के पूर्वजों का वर्णन है, परन्तु यदि वेदों को खोलकर विश्वामित्र और मैनकावाले मन्त्रों को पढ़िए तो उसमें मानुषी वर्णन लेशमात्र भी न मिलेगा और न इन्द्र के यहाँ जानेवाले वैदिक भरत का इस लौकिक भरत से कुछ सम्बन्ध दिखेगा।

शन्तनु की शादी गङ्गा से हुई। इधर शन्तनु के भीष्म हुए। पहला वर्णन वैदिक है— चमत्कारिक पदार्थों का है और दूसरा ऐतिहासिक है, किन्तु एक में जोड़ देने से परिणाम यह हुआ है कि लोग भीष्म को गङ्गा नदी का पुत्र समझते हैं। गङ्गा और शन्तनु को मिलाकर वैदिक अलंकार बनता है और सीधे-सादे शन्तनु और सीधे-सादे भीष्म को लेकर सांसारिक इतिहास बनता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस दूसरे समुदाय का वर्णन बहुत ही ध्यानपूर्वक पढ़कर कहने योग्य है। हमने ऊपर जो दो प्रसङ्ग लिखे हैं उनसे यही सूचित होता है कि हिन्दुओं का चाहे जो इतिहास वेद में बतलाया जाए, उसे देख लेना चाहिए कि उसमें कहीं चमत्कारी वर्णन तो नहीं है। ऐसा करने से उसमें अपूर्वता मिलेगी और वह अमानुषी सिद्ध होगा।

हमने पहले ही लिख दिया है कि मध्यमकालीन कवियों और पुराणकारों ने वैदिक और ऐतिहासिक समान शब्दों के वर्ण्य-व्यक्तियों का सम्मिलित वर्णन करके महान् झंझट फैला दिया है। इसी से पूर्वपुरुषों की चमत्कारिक उत्पत्तियों के वर्णनों का क्रम चल पड़ा और यहीं से वेदों में ऐतिहासिक घटनाओं की मिथ्या भ्रान्ति होने लगी।

हमारे अब तक के कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रथम विभागवाले चमत्कारी वर्णन वेदों के

हैं और दूसरे विभाग के वर्णनों का कुछ भाग वेदों का है और कुछ उस नाम के व्यक्तियों के इतिहासों का है, जिसे आधुनिक कवियों ने एक में मिला दिया है, अत: सम्भव और असम्भव की कसौटी से दोनों को पृथक् कर लेना चाहिए। शेष तीसरे विभाग के व्यक्ति तो ऐतिहासिक हैं ही। इस प्रकार की छानबीन से वेदों में इतिहास का भ्रम निकल जाएगा।

आगे हम क्रम से राजाओं और नदियों आदि के वर्णन देकर दिखलाते हैं कि वेद में आये हुए वे शब्द क्या-क्या अलौकिक भाव दिखलाते हैं, किन्तु पहले वह वर्णन दिखलाना चाहते हैं जिसे श्रीमान् मिश्र-बन्धुओं ने वेदों से निकाला है। आप बड़ा परिश्रम करके केवल इस एक ही युद्ध का वर्णन निकाल पाये हैं। आप लिखते हैं—

''अब वेदों में लिखित राजनैतिक इतिहास को यथासाध्य संक्षिप्त प्रकारेण क्रमबद्ध कर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। ऊपर कहा जा चुका है कि वेदों में ऐतिहासिक घटनाएँ अप्रासंगिक रीति से आई हैं, इसलिए उनमें से अधिकांश का वेदों के ही सहारे क्रमबद्ध करना कठिन है, इसलिए हम यहाँ पर मुख्य-मुख्य घटनाओं को मोटे प्रकार से सक्रम कहेंगे। आर्यों और अनार्यों के सैकड़ों नाम वेद में आये हैं। अनार्यों में वृत्र, दनु, पिप्र, सुश्न, शम्बर, बंगृद, बलि, नमुचि, मृगय, अर्बुद प्रधान समझ पड़ते हैं। दनु के वंशधर दानव थे, जिनका कई स्थानों में वर्णन है। यह दनु वृत्रासुर की माता थी। वृत्र के ९९ क़िले इन्द्र ने तोड़े थे। ९९ और १०० वृत्रों का कई स्थानों पर वर्णन आया है। शम्बर और बंगृद के सौ क़िले ध्वस्त किये गये। शम्बर के क़िले पहाड़ी थे और दिवोदास के कारण इन्द्र ने उसे मारा था। दिवोदास सुदास के पिता थे, इससे शम्बर का युद्ध छब्बीसवीं शताब्दी संवत् पूर्व का समझ पड़ता है। सुश्न का चलनेवाला क़िला ध्वस्त हुआ। चलनेवाले क़िले से जहाज़ का प्रयोजन समझ पड़ता है। पिप्र के ५०,००० सहायक मारे गये। बलि के ९९ पहाड़ी क़िले थे। ये सब जीते गये। सिवाय शम्बर के और सबका पूर्वापर क्रम ज्ञात नहीं है। आर्यों में ऋषियों के अतिरिक्त मनु, नहुष, ययाति, इला, पुरूरवा, दिवोदास, मान्धाता, दधीच, सुदास, त्रसदस्यु, ययाति के यदु आदि पाँचों पुत्र और पृथु की प्रधानता है। ययाति के यदु आदि पाँचों पुत्रों के वर्णन कई स्थानों पर आये हैं। दिवोदास और सुदास के सबसे अच्छे क्रमबद्ध वर्णन हैं। इस विषय में वसिष्ठ का सातवाँ मण्डल बहुत उपयोगी है। इसके पीछे विश्वामित्र का तीसरा मण्डल भी अच्छी घटनाओं से पूर्ण है। दिवोदास तृत्सु लोगों के स्वामी थे। वैदिक समय में सूर्यवंशियों की संज्ञा तृत्सु थी, ऐसा समझ पड़ता है। सुदास और उनके पुत्र कल्माषपाद सूर्यवंशी थे और पुराणों के अनुसार भगवान् रामचन्द्र का अवतार इन्हीं के पवित्र वंश में हुआ था। यही लोग वेद में तृत्सु कहे गये हैं। इन्हीं बातों से जान पड़ता है कि सूर्यवंशी उस काल में तृत्सु कहलाते थे।

''राजा दिवोदास बहुत बड़े विजयी थे। इन्होंने तुर्वश, द्रुह्यु और शम्बर को मारा और गङ्गु लोगों को भी पराजित किया। नहुषवंशी इनको कर देने लगे थे। इनके पुत्र सुदास ने इनके विजयों को और भी बढ़ाया। सुदास का युद्ध वैदिक युद्धों में सबसे बड़ा है। नहुषवंशी यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु के सन्तानों ने भारतों से मिलकर तथा बहुत-से अनार्य राजाओं की सहायता लेकर सुदास को हराना चाहा। नहुषवंशियों की सहायतार्थ भार्गव लोग परोदास, पकथ, भलान, अलिन, शिव, विशात, कवम, युध्यामधि, अज, सिगरु और चक्षु आये तथा २१ जाति के वैकर्ण लोग भी पहुँचे। राजा वर्चिन एक बहुत बड़ी सेना लेकर इनका नेता हुआ। कितने ही सिम्यु लोग

भी नहुषों की सहायतार्थ आये। फिर भी नहुष वंश का मुख्य राजा पुरुवंशी इस युद्ध में सम्मिलित न हुआ। नहुषों ने रावी नदी के दो टुकड़े करके एक नहर निकालकर नदी को पार करना चाहा, किन्तु सुदास ने तत्काल धावा बोल दिया जिससे गड़बड़ में नहुषों की बहुत-सी सेना नदी में डूब मरी। कवष और बहुत-से द्रुह्युवंशी डूब गये। महाविकराल युद्ध हुआ, जिसमें सुदास ने अपने सारे शत्रुओं को पूर्ण पराजय दी। अनु और द्रुह्युवंशियों के ६६ वीर पुरुष और ६००० सैनिक मारे गये और आनवों का सारा सामान लूट लिया गया जो सुदास ने तृत्सु को दे दिया। सात क़िले भी सुदास के हाथ लगे और उन्होंने युध्यामधि को अपने हाथ से मारा। राजा वर्चिन के एक लाख सैनिक इस युद्ध में मारे गये। अज, सिगरु और चक्षु ने सुदास को कर दिया। इस प्रकार रावी नदी पर यह विकराल युद्ध समाप्त हुआ। सुदास ने तत्पश्चात् यमुना नदी के किनारे भेद को पराजित करके उसका देश छीन लिया। इस प्रकार भेद सुदास की प्रजा हो गया। आर्यों का नागों से वेद में कोई युद्ध नहीं लिखा गया है, केवल एक बार इतना लिखा हुआ है कि पेदु नामक वीर पुरुष के घोड़े ने बहुत-से नागों को मारा। इससे जान पड़ता है कि आर्यों का नागों से कोई छोटा-सा युद्ध हुआ था। विश्वामित्र ने अपने मण्डल में भारतों का वर्णन बहुत-सा किया है। इन लोगों की नहुषों से एकता-सी समझ पड़ती है। वेदों के आधार पर यह संक्षिप्त राजनैतिक इतिहास इसी स्थान पर समाप्त होता है। आगे के अध्याय में पुराणों का भी सहारा लेकर वैदिक समय का क्रमवद्ध इतिहास लिखा जाएगा।'' अध्याय ११ का अन्तिम भाग पृ० १८१-१८३।

आप वेदों से इतना ही इतिहास निकाल सके। अच्छा! यदि यह इतिहास था तो इसे और भी कभी किसी ने देखा? इसके उत्तर में आप कहते हैं कि 'इस युद्ध का वर्णन तथा उपर्युक्त सब वीरों, राजाओं और जातियों के नाम पुराणों में नहीं मिलते, किन्तु ऋग्वेद के सातवें मण्डल में महर्षि ने इसका बड़ा हृदयहारी वर्णन किया है'। पृ० १९७। चलो छुट्टी हुई। वेदों के ऐतिहासिक पुरुषों का, अर्थात् नहुष, ययाति के स्वर्ग का वर्णन तो पुराणों ने किया, परन्तु इस युद्ध का वर्णन क्यों नहीं किया? वास्तविक बात तो यह है कि पुराण तो मिश्रित इतिहास कहते हैं। इसमें तो मिश्रण भी नहीं है। ये तो कोरे वैदिक अलंकार हैं, इन्द्र वृत्र के वर्णन हैं, और तारा तथा ग्रहों के योग हैं। इन योगों को ग्रहयुद्ध भी कहते हैं।[1]

बारहवें अध्याय में पुराणों को लेकर जो वैदिक इतिहास दिया है उसमें निम्न-बातें मनुष्य के इतिहास की नहीं प्रतीत होती, वे आकाशीय हैं। जैसाकि आप कहते हैं—

'दैत्यों आदि के आर्यशत्रु कौन थे, यह ज्ञात नहीं। इनके शत्रु बहुत करके इन्द्र ही कहे गये हैं, किन्तु इसका निश्चय नहीं है कि इन्द्र देवतामात्र थे अथवा कोई सम्राट् भी' पृ० १८६। 'कहते हैं कि त्रिशंकु ने वसिष्ठ को छोड़कर विश्वामित्र से यज्ञ कराया और विश्वामित्र ने त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेज दिया' पृ० १८८। 'राजा पुरूरवा का विवाह उर्वशी नाम्नी अप्सरा से हुआ, जिससे छह पुत्र हुए। उनमें आयु प्रधान है' पृ० १९१। 'राजा पुरूरवा के पौत्र नहुष का इतना प्रताप बढ़ा कि इन्द्रपदवी प्राप्त हुई········इन्होंने इन्द्राणी शची के साथ विवाह करना चाहा और ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई। वृत्र नामक किसी ब्राह्मणकुमार के वध करने के कारण इन्द्र जातिच्युत हुए थे' पृ० १९४। 'ययाति को शुक्र की कन्या देवयानी और वृषपर्वा की कन्या शरमिष्ठा ब्याही

---

१. ताराग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धसमागमौ। —सूर्यसिद्धान्त अ० ७।१

थीं। पुराणों में इनका दौहित्रों द्वारा स्वर्गच्युत होने से बचाने का हाल कहा गया है' पृ० १९४।

इन वर्णनों से नहीं ज्ञात होता कि ये सब मनुष्य थे। इन्द्र, वृत्र, त्रिशंकु, विश्वामित्र, पुरूरवा, उर्वशी, नहुष, ययाति, शुक्र यौर देवयानी आदि सब आकाशीय पदार्थ हैं। जिस दिवोदास को आप शम्बर का मारनेवाला कहते हैं वह पृथिवी का मनुष्य कैसे हो सकता है? 'शम्बर' तो मेघ का नाम है। इसी प्रकार चलनेवाला क़िला भी मेघ है। वृत्र भी मेघ ही हैं। इन्द्र वृत्र का अलङ्कार तमाम वेदों में भरा है।

इन्द्र और वृत्र से सम्बन्ध रखनेवाला समस्त वर्णन मेघ और विद्युत् का है जो आकाश ही में चरितार्थ हो सकता है। शेष आयु, नहुष और ययाति आदि का वर्णन हम यहाँ विस्तार से करते हैं, जिससे प्रकट हो जाएगा कि वेदों में इन नामों का सम्बन्ध किन पदार्थों से है।

वेदों में राजाओं का इतिहास नहीं

क्षत्रियों के सूर्य और चन्द्र दो वंश प्रसिद्ध हैं। सूर्यवंश और चन्द्रवंश दोनों की उत्पत्ति वैवस्वत मनु से है। सूर्यवंश का आदि पुरुष इक्ष्वाकु है और चन्द्र का पुरूरवा। पुरूरवा के पूर्व बुध, चन्द्र और अत्रि तीनों आकाशीय पदार्थ हैं। इसी प्रकार सूर्यवंश का मूल स्वयं सूर्य भी आकाशीय पदार्थ है। क्या इन सृष्टि के महान् चमत्कारिक पदार्थों से मनुष्य पैदा हो सकते हैं? कभी नहीं। तब समझना चाहिए कि इसका कुछ दूसरा ही भेद होगा।

भेद वही है जो पहले बतलाया गया है कि वेदों का चमत्कारिक वर्णन लोक के राजाओं के वर्णन के साथ जोड़ दिया गया है—सूर्य, चन्द्र, बुद्ध आदि नाम के राजाओं को वेदों के आकाश-स्थित सूर्य, चन्द्रादि के वर्णनों के साथ मिला दिया गया है।

वेद के तीन संसार हैं। एक संसार मनुष्य का शरीर है, दूसरा संसार इस पृथिवी पर स्थित पदार्थों के सहित माना गया है और तीसरा संसार अन्तरिक्ष है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् और वायु, मेघ तथा प्रकाशादि अनेक पदार्थ हैं।

वेदों में इस आकाशस्थ संसार का वर्णन कम-से-कम आधा है। इसमें राजा हैं, ब्राह्मण हैं, आर्य हैं, क्षत्रिय हैं, राक्षस हैं, ग्राम हैं, वीथी हैं, पुर हैं, युद्ध हैं, पशु हैं और अनेक प्रकार के अर्थ-भाव बतानेवाले वर्णन भरे हुए हैं। यहाँ हम नमूने के लिए दो-चार वर्णन देते हैं—

वहाँ के युद्धों का वर्णन इस प्रकार है—

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्॥ —ऋ० ७।९९।५

अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्रमपावपद्भरता सोममस्मै॥ —ऋ० २।१४।६

अर्थात् विष्णु=सूर्य ने शम्बर=बादलों के ९९ नगर नष्ट कर दिये और सौ सहस्र तेजयुक्त असुर-वीरों को मार दिया। जिस अध्वर्यु=सूर्य ने शम्बर के एक सौ पुराने नगर वज्र से तोड़ डाले और जिस इन्द्र ने असुर के तेजयुक्त सौ सहस्र वीरों को मार दिया, उसको सोम दो।

इस सेना का वर्णन इस प्रकार है—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ —ऋ० १०।१०३।८

अर्थात् इन्द्र इसका नेता हुआ, बृहस्पति दाहिनी ओर और सोम आगे चला। मरुद्गण शत्रुओं को कुचलते हुए इस देवसेना के बीच में चले।

यहाँ के शादी-विवाहों का वृत्तान्त पढ़िए—

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादात्॥

—ऋ० १०।८५।९

अर्थात् सोम वधू चाहनेवाला था, अश्विदेव वधू के साथ थे और सूर्य ने मन से पति की इच्छा करनेवाली सूर्या—वधू का पति के हाथ में समर्पण किया।

अब इनकी खेती—किसानी देखिए—

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः॥ —अथर्व० ६।३०।१

अर्थात् देवताओं ने सरस्वती में मधुर यव की खेती की, जिसके सीरपति (स्वामी) इन्द्र हुए और किसान मरुद्गण हुए।

इन किसानों के पशु क्या हैं? वह भी देखिए—

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु॥ —अथर्व० २।२६।१

अर्थात् जिन पशुओं का सहचारी वायु है, त्वष्टा जिनके नाम-रूप जानता है और जो बहुत दूर हैं, सविता=सूर्य उनको गोष्ठ में पहुँचावे।

वैदिक जानते हैं कि सूर्यकिरणों को गौ और अश्व कहते हैं। वे सब सूर्य के गोष्ठ में रहते हैं। हमने यहाँ केवल नमूनामात्र दिखलाया है। वेदों में आकाशीय पदार्थों के द्वारा एक पूरे संसार का वर्णन किया गया है। इन सब वर्णनों के साथ उनके वंशो का भी वर्णन है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव यमिरे॥

—ऋ० १।१०।१

अर्थात् हे शतक्रतो! तुम्हारे गीत गायत्री आदि गाती हैं, सूर्य तुम्हारी पूजा करते हैं और ब्राह्मण लोग शाखोच्चार की भाँति तुम्हारे वंश की वंशावली का बखान करते हैं।

आकाशीय पदार्थों के वंश का यहाँ वर्णन किया गया है। नक्षत्र वंश की बात वाल्मीकि रामायण में भी कही गई है कि—

सृजन्दक्षिणमार्गस्थान्सप्तर्षीनपरान्पुनः। नक्षत्रवंशमपरमसृजत् क्रोधमूर्छितः॥
दक्षिणां दिशमास्थाय ऋषिमध्ये महायशाः। सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः॥

—बालकाण्ड सर्ग ६०।२१, २२

यहाँ त्रिशंकु नक्षत्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि दक्षिण की ओर एक दूसरा नक्षत्रवंश पैदा किया गया। यह ध्यान रखने की बात है कि यहाँ स्पष्ट नक्षत्रवंश कहा गया है।

सम्भव है इन वैदिक वंश-वर्णनों से ही ऐतिहासिक वर्णनों का मेल मिल गया हो और सूर्य-चन्द्र आदि का जो नक्षत्रवंश है वह क्षत्रियों के वे-वे नाम होने के कारण उसी में समझ लिया गया हो। हमारा तो पूरा विश्वास है कि वेदों के अनेक आलङ्कारिक भाव ग़लती से इतिहास

में मिला दिये गये हैं। आइए, कुछ नमूने यहाँ दिखावें।

राजा पुरूरवा

पुरूरवा चन्द्रवंश का मूल पुरुष है। वेदों में पुरूरवा और उर्वशी का वर्णन देकर एक आलङ्कारिक नाटक का नमूना बतलाया गया है। यह पुरूरवा सूर्य है, उर्वशी उसकी एक किरण है और दोनों अग्नि हैं।

यह प्रसिद्ध है कि इन्द्र के अनेक अप्सराएँ थीं। इन्द्र नाम सूर्य का है और अप्सरा उसकी किरणें हैं। उसकी अनेक किरणों में उर्वशी भी एक किरण है। पहले देखिए कि वेद में पुरूरवा और उर्वशी तथा आयु, तीनों को अग्नियों के नाम से कहा है—

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि। —यजुः० ५।२

यहाँ अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है कि तू उर्वशी है, तू आयु है और तू पुरूरवा है। तुझे गायत्री, त्रैष्टुभ और जगती छन्दों से मथकर निकालता हूँ।

यहाँ आयु शब्द बड़े मार्के का है। यह प्रसिद्ध है कि पुरूरवा और उर्वशी से आयु नामक पुत्र हुआ था। यहाँ उर्वशी और पुरूरवा अग्नि कहे गये हैं। अग्नि से अग्नि की ही उत्पत्ति होती है, इसलिए उन दोनों अग्नियों से पैदा होनेवाली यह आयुनामक तीसरी अग्नि भी अग्नि ही है। अग्नि ही सूर्य है और अग्नि ही उसकी किरणें हैं। आगे का मन्त्र कैसा स्पष्ट कहता है कि—

सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः ॥ —यजुः० १८।३९

अर्थात् सूर्य ही गन्धर्व है और उसकी किरणें ही अप्सरा हैं।

अग्नि ही सूर्य और गन्धर्व है। गन्ध को यही फैलाती है, अर्थात् हुत पदार्थ इसी में डाले जाते हैं, जो फैलते हैं। आगे अप्सराओं के नाम बतलाये जाते हैं—

पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ।
प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसौ।
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ। —यजुः० १५।१५-१९

यहाँ अन्य अप्सराओं के साथ मेनका और उर्वशी भी अप्सरा कही गई हैं। ऊपर कहा गया है कि अप्सरा सूर्य की किरणें ही हैं और बताया गया है कि सूर्य ही अग्नि है, अतः ऊपर का वर्णन अन्तरिक्ष के चमत्कारिक तैजस् पदार्थों का ही है। इसे मनुष्य के वर्णन के साथ जोड़ने की क्या आवश्यकता है?

बहुत दिन के अन्वेषण के पश्चात् विद्वान् भी अब इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। नमूने के लिए उनके कुछ वाक्यों को पढ़िए। Selected Essays, Vol. 1, p. 408 पर प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि—'यह पुरूरवा उर्वशी की कथा, उषा और सूर्य का आलङ्कारिक भाषा में वर्णन करती है।' जिस सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा का वर्णन है उसी के एक मन्त्र में कहा गया है कि '**अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः**'[१], अर्थात् मैं वसिष्ठ (सूर्य) अन्तरिक्ष में घूमनेवाली उर्वशी को अपने वश में रक्खूँ। अब बताइए कि क्या अन्तरिक्ष में घूमनेवाली वस्तु कभी मनुष्य हो सकती है?

---

१. ऋ० १०।९५।१७

में मिला दिये गये हैं। आइए, कुछ नमूने यहाँ दिखावें।

राजा पुरूरवा

पुरूरवा चन्द्रवंश का मूल पुरुष है। वेदों में पुरूरवा और उर्वशी का वर्णन देकर एक आलङ्कारिक नाटक का नमूना बतलाया गया है। यह पुरूरवा सूर्य है, उर्वशी उसकी एक किरण है और दोनों अग्नि हैं।

यह प्रसिद्ध है कि इन्द्र के अनेक अप्सराएँ थीं। इन्द्र नाम सूर्य का है और अप्सरा उसकी किरणें हैं। उसकी अनेक किरणों में उर्वशी भी एक किरण है। पहले देखिए कि वेद में पुरूरवा और उर्वशी तथा आयु, तीनों को अग्नियों के नाम से कहा है—

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि। —यजुः० ५। २

यहाँ अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है कि तू उर्वशी है, तू आयु है और तू पुरूरवा है। तुझे गायत्री, त्रैष्टुभ और जगती छन्दों से मथकर निकालता हूँ।

यहाँ आयु शब्द बड़े मार्के का है। यह प्रसिद्ध है कि पुरूरवा और उर्वशी से आयु नामक पुत्र हुआ था। यहाँ उर्वशी और पुरूरवा अग्नि कहे गये हैं। अग्नि से अग्नि की ही उत्पत्ति होती है, इसलिए उन दोनों अग्नियों से पैदा होनेवाली यह आयुनामक तीसरी अग्नि भी अग्नि ही है। अग्नि ही सूर्य है और अग्नि ही उसकी किरणें हैं। आगे का मन्त्र कैसा स्पष्ट कहता है कि—

सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः॥ —यजुः० १८। ३९

अर्थात् सूर्य ही गन्धर्व है और उसकी किरणें ही अप्सरा हैं।

अग्नि ही सूर्य और गन्धर्व है। गन्ध को यही फैलाती है, अर्थात् हुत पदार्थ इसी में डाले जाते हैं, जो फैलते हैं। आगे अप्सराओं के नाम बतलाये जाते हैं—

पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ।
प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसौ।
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ। —यजुः० १५। १५-१९

यहाँ अन्य अप्सराओं के साथ मेनका और उर्वशी भी अप्सरा कही गई हैं। ऊपर कहा गया है कि अप्सरा सूर्य की किरणें ही हैं और बताया गया है कि सूर्य ही अग्नि है, अतः ऊपर का वर्णन अन्तरिक्ष के चमत्कारिक तैजस् पदार्थों का ही है। इसे मनुष्य के वर्णन के साथ जोड़ने की क्या आवश्यकता है?

बहुत दिन के अन्वेषण के पश्चात् विद्वान् भी अब इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। नमूने के लिए उनके कुछ वाक्यों को पढ़िए। Selected Essays, Vol. 1, p. 408 पर प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि—'यह पुरूरवा उर्वशी की कथा, उषा और सूर्य का आलङ्कारिक भाषा में वर्णन करती है।' जिस सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा का वर्णन है उसी के एक मन्त्र में कहा गया है कि '**अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः**'[1], अर्थात् मैं वसिष्ठ (सूर्य) अन्तरिक्ष में घूमनेवाली उर्वशी को अपने वश में रक्खूँ। अब बताइए कि क्या अन्तरिक्ष में घूमनेवाली वस्तु कभी मनुष्य हो सकती है?

---

१. ऋ० १०। ९५। १७

प्रोफेसर गेल्डनर, रौथ, गोल्डस्टकर और म्यूर आदि भी यही कहते हैं। ग्रिफ़िथ साहब ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ९५वें सूक्त के नोट में कहते हैं कि 'मैक्समूलर के मत से यह उषा और सूर्य का वर्णन है और डाक्टर गोल्डस्टकर के मत से प्रातःकाल तथा सूर्य का है।'* एतद्देशीय विद्वान् भी यही कहते हैं। आर०सी० दत्त ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त ११५ पर कहते हैं कि 'अमरा पूर्वई बलियाछि। उर्वशीर आदि अर्थ उषा, पुरूवार आदि अर्थ सूर्य। सूर्य उदय हइले ऊषा आर थाके ना', अर्थात् हमने पहले ही कह दिया कि उर्वशी का अर्थ उषा और पुरूरवा का अर्थ सूर्य होता है। सूर्य के उदय होते ही उषा ठहर नहीं सकती।

बस, यहाँ तक हमने वेदों से वेदों का अर्थ करने की परिपाटी के द्वारा पुरूरवा और उर्वशी तथा उनके पुत्र आयु को देखा और देशी-विदेशी सभी विद्वानों का मत संग्रह करके जाँचा तो पता लगा कि ये व्यक्ति लौकिक नहीं—मनुष्य नहीं—राजा नहीं, प्रत्युत आकाशीय चमत्कारी पदार्थ हैं। ग़लती से पुराणों ने इस नक्षत्रवंश को मनुष्य वंश के साथ जोड़ दिया है।[२]

राजा आयु

ऊपर के वर्णन में आयु का थोड़ा-सा वर्णन आ गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि '**अग्नेः... आयुरसि**' (यजुः० ५।२) हे अग्ने! तू आयु है। यह 'आयु' पुराणों में उर्वशी और पुरूरवा का पुत्र कहा गया है। हमने भी देखा कि उर्वशी और पुरूरवा अग्नि से ही बने हुए सूर्य और रश्मि हैं, तब उनके पुत्र को अग्नि होना ही चाहिए। दूसरे स्थान पर ऋग्वेद १।३१।११ में लिखा है '**त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्**', अर्थात् हे अग्ने! पहले तूने आयु को बनाया और आयु से देवताओं को बनाया (वही बात इससे भी सूचित होती है कि आयु नामक अग्नि से ही सूर्यकिरण, ऊषा आदि देवता बनाये गये) इस प्रकार आयु भी मनुष्य सिद्ध नहीं होता।

राजा नहुष

पुराणों में आयु का पुत्र नहुष लिखा हुआ है। इसकी कथा का सम्बन्ध भी पुराणों में आकाश के चमत्कारी पदार्थों से जुड़ा हुआ है। वहाँ लिखा है कि नहुष को इन्द्र की पदवी मिली थी। यह इन्द्र जिसकी अप्सराओं का ऊपर वर्णन हो चुका है सूर्य ही है। नहुष एक बार सूर्य हो चुका है। यहाँ हम नहुष से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ वेदमन्त्रों को उद्धृत करते हैं और दिखलाते हैं कि उक्त मन्त्रों में नहुष किस प्रकार का पदार्थ सिद्ध होता है।

आ यातं नहुषस्पर्यान्तरिक्षात् सुवृक्तिभिः। पिबाथो अश्विना मधु। —ऋ० ८।८।३
अध ग्मन्ता नहुषो हवं सूरेः......नभो जुवो यन्निरवस्य राधः। —ऋ० १।१२२।११
स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृतःसहोभिः। —ऋ० ७।६।५
सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमीनहुषी अस्य बोधतम्। —ऋ० १०।९२।१२

---

२. पुरूरवार्द्रवाश्चैव विश्वेदेवाः प्रकीर्तिताः। —लिखितस्मृति ४९
अर्थात् पुरूरवा और आर्द्रवा विश्वदेव हैं—आकाशीय हैं।

* Maxmuller considers the story to be one of the myths of Vedas which expresses the co-relation of the dawn and the sun. According to Dr. Goldstucker, Urvasi is the morning mist which vanishes away as soon as Pururava the sun displays itself.

यदिन्द्र नाहुषीष्वा। अग्ने विक्षु प्र — अथर्व० २०।२६।३

— अथर्व० ६।४९।३

— ऋ० ६।४७।१८

पारयत्। — ऋ० ४।३०।१७

— ऋ० १।१०८।८

— ऋ० ५।१८।१

ऊपर हमने पाँच मन्त्रों के वे
यहाँ इन मन्त्रों का अर्थ करके
दिखलाना चाहते हैं कि वेदों
में कहा गया है कि 'नहुष
जो आकाशीय पदार्थ
जो आकाशवाची है न आ गये हैं। यहाँ मन्त्रों
की चर्चा भी आई है। क्रमशः संक्षेप से उनका
जानना चाहिए। पाँचवें मन

इन मन्त्रों में नहुष का सम्ब
साथ वर्णित हुआ है। उधर पुराणो
जा सकता है कि वेद का यह 'नहुष'

महाभारत में लिखा है—

नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहात
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत्।

अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः। तस्मिन्।
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम्। यस्मात् पदाहत
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते। इत्युक्तः स तदा

— महा० अ

अर्थात् राजर्षि नहुष ने पुण्यकर्म के फल से इन्द्रत्व प्राप्त किया। इन्द्र
अत्यन्त अहंकार हो गया। उन्होंने ऋषियों से अपनी पालकी उठवाना आरम्भ
बार अगस्त्य ऋषि पालकी उठा रहे थे, नहुष ने उनके शिर पर लात मारी। इसपर
नहुष को शाप दिया कि 'तू सर्प हो जा'। नहुष सर्प होकर पृथिवी पर गिर पड़ा। मह
नाग के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

आप्तः कर्कोटकश्चैव शंखो वालिशिखस्तथा। निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा।

— महाभारत १।३५।८-९*

इसमें 'नहुष' शब्द भी आया है, जो नागों के नामों में कहा गया है। नाग के कई अर्थ हैं, परन्तु यहाँ यह नहुष बादलों के अर्थ में नाग कहा गया है। वेदों में अहि बादल को कहते हैं, इसीलिए महाभारत में भी बादलों को नाग कहा गया है। महाभारत वनपर्व में लिखा है कि **'अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा।'**[१] भावार्थ यह है कि अगस्त नक्षत्र के उदय होते ही सर्परूपी पानी का—बादलों का ध्वंस हो जाता है। **'उदय अगस्त पंथजल सोखा'** यह

१. महा० वन० १८१।३७ श्लोक का पहला चरण गीता प्रेस संस्करण में इसी रूप में है। दूसरा चरण है—सर्पस्त्वं च भवेति ह। पूना संस्करण में प्रथम चरण इस रूप में है—अदृष्टेन ततोऽस्म्युक्तो, दूसरा चरण जैसा ऊपर दिया हुआ है, वैसा ही है। —जगदीश्वरानन्द

यदिन्द्र नाहुषीष्वा । अग्ने विक्षु प्र —अथर्व० २०।२६।३

—अथर्व० ६।४९।३

—ऋ० ६।४७।१८

पारयत् । —ऋ० ४।३०।१७

—ऋ० १।१०८।८

—ऋ० ५।१८।१

ऊपर हमने पाँच मन्त्रों के वे
यहाँ इन मन्त्रों का अर्थ करके
दिखलाना चाहते हैं कि वेदों
में कहा गया है कि 'नहुष
जो आकाशीय पदार्थ
जो आकाशवाची है ... न आ गये हैं। यहाँ मन्त्रों
की चर्चा भी आई है। ... क्रमशः संक्षेप से उनका
जानना चाहिए। पाँचवें मन्

इन मन्त्रों में नहुष का सम्
साथ वर्णित हुआ है। उधर पुराणो
जा सकता है कि वेद का यह 'नहुष'

महाभारत में लिखा है—

नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातः
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत् ।

अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः । तस्मिन् ।
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम् । यस्मात् पदाहत
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते । इत्युक्तः स तदा

—महा० अ

अर्थात् राजर्षि नहुष ने पुण्यकर्म के फल से इन्द्रत्व प्राप्त किया। इन्द्र
अत्यन्त अहंकार हो गया। उन्होंने ऋषियों से अपनी पालकी उठवाना आरम्भ
बार अगस्त्य ऋषि पालकी उठा रहे थे, नहुष ने उनके शिर पर लात मारी। इसपर
नहुष को शाप दिया कि 'तू सर्प हो जा'। नहुष सर्प होकर पृथिवी पर गिर पड़ा। मह
नाग के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

आप्तः कर्कोटकश्चैव शंखो वालिशिखस्तथा । निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा ।।

—महाभारत १।३५।८-९*

इसमें 'नहुष' शब्द भी आया है, जो नागों के नामों में कहा गया है। नाग के कई अर्थ हैं, परन्तु यहाँ यह नहुष बादलों के अर्थ में नाग कहा गया है। वेदों में अहि बादल को कहते हैं, इसीलिए महाभारत में भी बादलों को नाग कहा गया है। महाभारत वनपर्व में लिखा है कि **'अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा ।'**[1] भावार्थ यह है कि अगस्त नक्षत्र के उदय होते ही सर्परूपी पानी का—बादलों का ध्वंस हो जाता है। **'उदय अगस्त पंथजल सोखा'** यह

१. महा० वन० १८१।३७ श्लोक का पहला चरण गीता प्रेस संस्करण में इसी रूप में है। दूसरा चरण है—सर्पस्त्वं च भवेति ह। पूना संस्करण में प्रथम चरण इस रूप में है—अदृष्टेन ततोऽस्म्युक्तो, दूसरा चरण जैसा ऊपर दिया हुआ है, वैसा ही है। —जगदीश्वरानन्द

तुलसीदास ने भी लिखा है। सम्भव है नहुष आकाशस्थ पदार्थों में से बादल ही हो, क्योंकि ऋग्वेद १०।४९।८ में वह **सप्तहा**—सात किरणों को मारनेवाला कहा गया है जो बादल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। महाभारत की कथा के अनुसार नहुष ने इन्द्र का पद पाया, अर्थात् बादलों ने सूर्य को घेर लिया, परन्तु अगस्ति ऋषि के तेज से वह भूमि पर गिर गया, अर्थात् अगस्ति तारे के उदय होते ही वर्षा ऋतु चली गई। इससे स्पष्ट हो गया कि नहुष बादल है।

राजा ययाति

पुराणों में नहुष का लड़का ययाति लिखा हुआ है। इसका वर्णन भी आकाश से सम्बन्ध रखता है। इसकी एक रानी शुक्र की लड़की थी। यह वही शुक्र है जो आकाश में ग्रह है। दूसरी रानी वृषपर्वा की लड़की थी। यह वृषपर्वा बादलों के सिवा और कुछ नहीं है। ऋग्वेद में आया है कि—

अग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्। —ऋ० १।३१।१७

यहाँ कहा है कि हे अग्ने! तुम अङ्गिरस् की भाँति हो और अङ्गिरस् ययाति की भाँति है। ऐतरेयब्राह्मण ३।३४ में लिखा है कि '**ये अङ्गारा आसंस्ते अङ्गिरसोऽभवन्**' अर्थात् अङ्गार ही अङ्गिरस् हैं। ऋ० १०।६२।५ में भी है कि '**अङ्गिरसःसूनवस्ते अग्नेः०**' अर्थात् अङ्गिरस्, अग्नि के लड़के अंङ्गार ही हैं।

ऊपर ययाति को अङ्गार की भाँति बतलाया गया है और शुक्रग्रह की लड़की के साथ उसका विवाह बलताया गया है। इससे तो स्पष्ट हो गया है कि ययाति भी कोई तारा है अथवा आकाश का कोई चमकीला पदार्थ है[१]। हमारी समझ में नहीं आता कि इस आग्नेय आकाशस्थ पदार्थ को मनुष्य अथवा राजा कैसे बना दिया गया?

यदु, तुर्वश, पुरु, द्रुह्यु और अनु

ये पाँचों लड़के राजा ययाति के हैं। ऊपर ययाति की जो दो रानियाँ बतलाई गई हैं उनमें एक से दो लड़के और दूसरी से तीन लड़के हुए, यह पुराणों में लिखा है, परन्तु वेदों में इस बात का कहीं वर्णन नहीं है कि अमुक अमुक का पुत्र था या पिता। वहाँ तो केवल ये शब्द आते हैं और इन शब्दों के जो वाच्य हैं उनका वर्णन आता है। हम यहाँ भी कुछ ऐसे मन्त्र लिखना चाहते हैं जिनमें उपर्युक्त शब्द आते हैं और उन शब्द-वाच्यों का वर्णन आता है—

१. **यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अधि तुर्वशे।**
अतो रथेन सुवृता न आ गतं साकं सूर्यस्य रश्मिभिः॥ —ऋ० १।४७।७
२. **अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।** —ऋ० १।३६।१८
३. **समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुम्।** —ऋ० १।१७४।९
४. **अन्तरिक्षे पतथः पुरुभुजा।** —ऋ० ८।१०।६
५. **यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे।** —अथर्व० २०।१४२।३
६. **हव्यवाहं पुरुप्रियम्।** —अथर्व० २०।१०१।२

---

१. सूर्यसिद्धान्त की भूमिका में उदयनारायणसिंह ने लिखा है कि ययाति एक तारा है।

७. **अनुप्रत्नस्यौकसः।** —अथर्व० २०।२६।३
८. **पुरूरेतो दधिरे सूर्यश्रितः।** —अथर्व० ६।४९।३
९. **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।** —ऋ० ६।४७।१८
१०. **उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः। इन्द्रो विद्वाँ अपारयत्।** —ऋ० ४।३०।१७
११. **यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रुह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः।** —ऋ० १।१०८।८
१२. **प्रातरग्निः पुरुप्रियः।** —ऋ० ५।१८।१

इन बारह मन्त्रों में उक्त यदु, तुवर्श आदि पाँचों के नाम और काम आ गये हैं। यहाँ मन्त्रों का भाष्य नहीं करना, प्रत्युत उक्त शब्दों का भावमात्र खोलना है, अतः क्रमशः संक्षेप से उनका भाव लिखते हैं।

१. जो विद्युत् तुर्वश में है, वह सूर्य की रश्मियों से आ गई।
२. अग्नि से तुर्वश यदु को दूर करते हैं।
३. प्रकाश से तुर्वश यदु को पार करो।
४. अन्तरिक्ष का रास्ता पुरु है।
५. यदु सूर्य के द्वारा जाते हैं।
६. हुत पदार्थों को ले-जानेवाले पुरु।
७. अनु का घर द्युलोक है।
८. पुरु सूर्य के आश्रित है।
९. इन्द्र माया करके पुरु बन जाता है।
१०. तुवर्श, यदु को शचीपति इन्द्र पार कर देगा।
११. जो इन्द्र और अग्नि यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु में है।
१२. प्रातःकाल का हवन पुरु को प्रिय है।

क्या ऊपर के भावार्थ से यह समझ पड़ता है कि ये वर्णन मनुष्यों के हैं? यदि ऐसा हो तो समझना चाहिए कि हमारी बुद्धि हमको ही धोखा दे रही है। जिन पदार्थों का सम्बन्ध विद्युत्, सूर्य, रश्मि, अग्नि, आकाश, अन्तरिक्ष, द्यौ, इन्द्र, शची और अनेक आकाशस्थ पदार्थों से है, जो सूर्य की रश्मियों के द्वारा आते और हव्य ले-जाते हैं तथा जिनमें विद्युत् रहती है, क्या ऐसे पदार्थ मनुष्य हो सकते हैं? हमारी समझ में तो ये मनुष्य नहीं है। ज्योतिष के ग्रन्थों में लिखा है कि '**पौरो गुरु रविजा नित्यं शीता शुरा क्रन्दाः**', अर्थात् बुध, गुरु और शनि ये सदा पौर हैं। पुरु से ही पौर होता है। इससे ज्ञात होता है कि ये कई नक्षत्र मिलकर यदु, तुर्वश आदि कहलाते हैं। वेदों में इनका जो युद्ध वर्णित है वह युद्ध भी आकाशीय है। सूर्यसिद्धान्त अध्या० ७ में यह ग्रहयुद्ध वर्णित है। वहाँ लिखा है कि "**ताराग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धसमागमौ**", अर्थात् तारा और ग्रहों के परस्पर योग का नाम युद्ध है।

पुराणों ने इस नक्षत्रवंश के वर्णन को घसीट कर राजाओं के वर्णन के साथ मिला दिया, परन्तु प्रो० मैकडानल ने अपनी History of Sanskrit Literature में लिखा है 'ऋग्वेद में बार-बार कहे गये पुरु आदि पाँचों वर्गों का ब्राह्मणग्रन्थों में नाम तक नहीं है'। यदि ये इतने सरल अर्थवाले ऐतिहासिक व्यक्ति होते तो ब्राह्मणग्रन्थों में इनका कुछ भी तो वर्णन होता, परन्तु वहाँ

चर्चा तक नहीं है। ऐसी दशा में ये व्यक्ति ऐतिहासिक सिद्ध नहीं होते। वेदों में इतिहास का जो अनुमान किया जाता है वह मिथ्या है। वेदों में इतिहास का नाम भी नहीं है।

राजा शन्तनु

राजा शन्तनु दो भाई थे। दूसरे भाई का नाम था बाह्लीक, किन्तु पुराणों ने राजा शन्तनु के तीसरे भाई देवापी की कल्पना करके गड़बड़ मचा दी है। देवापी को शन्तनु का भाई क्यों बना दिया? इसका कारण वेदों में आये हुए वही चमत्कारिक वर्णन हैं। ऋग्वेद के दशवें मण्डल में एक सूक्त है जिसमें वर्षा का वर्णन है। वर्षा का प्रयोजन अनेक प्रकार की वनस्पति की रक्षा है। उस सूक्त में शन्तनु, देवापी और आर्ष्टिषेण शब्द आते हैं। इतने मात्र से यह कथा कल्पित कर ली गई है कि एक बार राजा शन्तनु के राज्य में अवर्षण हुआ। राजा शन्तनु ने अपने आर्ष्टिषेण देवापी नामक भाई को (जो विरक्त हो गया था और ऋष्टिषेण नामी ऋषि का शिष्य होने से आर्ष्टिषेण कहलाने लगा था) बुलाकर यज्ञ कराया, जिससे पानी बरसा। दूसरी जगह लिखा है कि शन्तनु राजा की शादी गङ्गा से हुई। उपर्युक्त दोनों कथाओं का तात्पर्य इतने दिनों के बाद अब खुल रहा है। यदि गङ्गा नदी का स्त्री होना पहले से न लिखा होता तो हमारे इस निम्नलिखित निकाले हुए निष्कर्ष पर विश्वास ही न होता, किन्तु भाग्य से पुराना वैदिक रहस्य रद्दी अवस्था में पड़ा रहा तो इससे आज का बड़ा काम निकला।

पूर्व इसके कि हम उक्त कथा पर प्रकाश डालें, यह आवश्यक जान पड़ता है कि पहले हम ज्ञात करले कि देवापी, ऋष्टिषेण, शन्तनु और गङ्गा आदि शब्दों का वेदों में क्या भावार्थ है। पहले देवापी शब्दो को देखिए। ऋग्वेद में ये दो शब्द हैं। बर्लिन के छपे हुए मैक्समूलर के पदपाठवाले ऋग्वेद में देव और आपी अलग-अलग छपा है। इसी प्रकार ऋष्टि और षेण भी अलग-अलग हैं। यहाँ देव, आपी, ऋष्टि और षेण का अर्थ विचार कीजिए। देव का अर्थ प्रसिद्ध है। यहाँ आपी के अधिष्ठाता को देव कहा गया है।

ऋग्वेद में लिखा है कि—

आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानाम्। —ऋ० १।३१।१६

अर्थात् सौम्य पदार्थों का 'आपि' पिता है। आपी से ही सब सौम्य (जलीय) पदार्थ उत्पन्न होते हैं। दूसरी जगह ऋग्वेद ४।४१।२ में लिखा है कि **'इन्द्रा ह यो वरुणा चक्र आपी'**, अर्थात् आपी नाम वरुण-चक्र का है। इस प्रकार देवापी का अर्थ होता है जल पैदा करनेवाली प्रधान शक्ति। ऋग्वेद १०।९८ सूक्त के सिवा देवापी शब्द अन्य किसी भी स्थान में इकट्ठा नहीं आता। इसका कारण स्पष्ट है कि यह एक शब्द नहीं है। इसीलिए पदपाठ में दोनों शब्द अलग-अलग कहे गये हैं, परन्तु पौराणिकों ने दोनों को एक करके शन्तनु का भाई बना डाला है। इसी प्रकार ऋष्टिषेण भी चारों वेदों में इस सूक्त के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं आता, अतः हम यहाँ 'ऋष्टि' और 'षेण' शब्दों का भाव भी देखना चाहते हैं। ऋष्टि के लिए कहा है कि—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैं रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। —ऋ० १।८८।१

को वोऽन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतो रेजति। —ऋ० १।१६८।५

य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः। —ऋ० ५।५२।१३

विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः। —ऋ० ३।५४।१३

इन चारों मन्त्रों में ऋष्टि का सम्बन्ध विद्युत् से दिखलाई पड़ता है और षेण के लिए तो ऋग्वेद में स्पष्ट कहा है—

षेणा उभे युजन्त रोदसी सुमेके। —ऋ० ६।६६।६

अर्थात् 'षेण' तो पृथिवी और आकाश दोनों को अकेला ही जोड़ता है। वहाँ वह षेण, ऋष्टि के साथ मिलकर उस विद्युच्छक्ति का सूचक ज्ञात होता है तो देवापी नामक जलशक्ति का प्रेरक होगा। जो हो, परन्तु इनके इन शब्द-भावों से सूचित होता है कि इन शक्तियों का सम्बन्ध जल बरसाने से है।

यह सबको विदित ही है कि गङ्गा की तीन शाखाएँ हैं। एक वह पानी जो आकाश से भूमि पर बरसता है, दूसरा वह जो भूमि पर बहता है और तीसरा वह जो भूमि के खोदने से निकलता है। अश्विन के महीने में जो पानी ऊपर से बरसता है उसे गाङ्गेय कहते हैं[1]।

यहाँ तक उक्त कथा का निष्कर्ष हुआ कि हवन से विद्युत् शक्ति की प्रेरणा द्वारा जलचक्र में क्रिया होती है और गङ्गा नामक देवनदी बरसात के रूप में नीचे आती है, परन्तु देखना चाहिए कि ये शन्तनु कौन है, जिनके साथ इस गङ्गा की शादी होती है।

ऋग्वेद १०।९८ सूक्त के अतिरिक्त, वेदों में शन्तनु शब्द अन्यत्र कहीं नहीं आया, इसलिए वेद से इस शब्द का स्पष्टिकरण नहीं हो सकता, परन्तु बड़े आनन्द की बात है कि पुराने ऋषियों ने इस शब्द का अर्थ वैद्यक के ग्रन्थों में लिख रक्खा है, अतः हम यहाँ सुश्रुत के वचन उद्धृत करके दिखलाते हैं कि 'शन्तनु' शब्द का क्या तात्पर्य है ?

अथ कुधान्यवर्गः—

कोरदूषकश्यामाकनीवार 'शान्तनु'।

वरकोद्दालकप्रियंगुमधूलिका नान्दीमुखी कुरुविन्दगवेधुक

वरुक तोदपर्णी मुकुन्दक वेणु यवप्रभृतयः कुधान्यविशेषः। —सुश्रुत सूत्रस्थान ४६।२१

इसमें अनेक प्रकार के धान्य गिनाये गये हैं, जिनमें एक शन्तनु भी है[2]। इस शान्तनुनामी धान्य का जीवन वर्षा है। आश्विन के महिने में इस धान्य को वर्षा की आवश्यकता होती है। आश्विन की वर्षा ही गङ्गा है। वह गङ्गा जब इस शान्तनु से अपना परिणय करती है तभी इसका तप्त हृदय प्रफुल्लित होता है। उस गङ्गा को शान्तनु के लिए ऊपर कही हुई आर्ष्टिषेणदेवापी नामी विद्युत् और जलशक्तियाँ प्रेरित करके नीचे लाती हैं। इसी को पौराणिकों ने लिख दिया कि आर्ष्टिषेणदेवापि ने यज्ञ करके शन्तनु के राज्य में पानी बरसाया और गङ्गा से शन्तनु की शादी हुई।

पुराण की यह कथा वेदों में आये हुए शान्तनु, आर्ष्टिषेण, देवापी आदि शब्द और उनसे सम्बन्ध रखनेवाला वर्षा का विज्ञान हमें तुरन्त वेदों में इतिहास की ओर बड़े प्रबलता से खींचने लगता है, परन्तु जब उन शब्दों को—उन मन्त्रों को ध्यानपूर्वक देखा जाता है तब ज्ञात होता है

---

१. गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः। सर्वथा तज्जलं ज्ञेयं तथैव चरके वचः। —भावप्रकाश

२. इस शान्तनु नामी धान्य के गुण इस प्रकार हैं—

ऊष्णाः कषायमधुरा रूक्षाः कटुविपाकिनः। श्लेष्मघ्ना बद्धनिस्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः॥

कषायमधुरस्तेषां शीतः पित्तापहः स्मृतः। कोद्रवश्च सनीवारः श्यामाकश्च सशान्तनुः॥

—सुश्रुत० सूत्र० ४६।२२, ३२

कि वहाँ बात ही कुछ और है।

इसी प्रकार का एक दूसरा अलंकार ऋग्वेद ४।१५ में आये हुए 'सोमकः साहदेव्यः' के विषय का है, जिसपर यहाँ थोड़ा-सा प्रकाश डालने की आवश्यकता है। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए० लिखते हैं कि ये सोमक सहदेव महाभारतकालीन व्यक्ति हैं।

महाभारत मीमांस पृष्ठ १०७ पर वैद्य महोदय जिन सहदेव सोमक की चर्चा करते हैं वे चन्द्रवंशी ही हैं, किन्तु ऋग्वेद ४।१५ में आये हुए सोमक सहदेव दूसरे ही हैं। इन मन्त्रों के साथ उस घटना का मेल मिलाना उचित नहीं है। वह घटना दूसरी ही है। इन मन्त्रों में तो किरणों का और अश्विन देवताओं का सम्बन्ध सोमक सहदेव के साथ लगाया गया है। किरणें और अश्विन आकाशीय पदार्थ हैं, इसलिए ये हरिवंश अध्याय ३२ के सहदेव सोमक नहीं है। जिन मन्त्रों से वैद्य महोदय को यह भ्रम हुआ है वे मन्त्र अर्थसहित नीचे लिखे जाते हैं—

बोधद्यन्मा हरिभ्यां कुमारं साहदेव्यः। अच्छा न हूत उदरम्॥
उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात्। प्रयता सद्य आ ददे॥
एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः। दीर्घायुरस्तु सोमकः॥
तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम्। दीर्घायुषं कृणोतन॥ —ऋ० ४।१५।७-१०

अर्थात् जब सहदेव के पुत्र ने मुझे दो किरणों के साथ कर दिया तब मैं बुलाये की भाँति उपस्थित हो गया। मैंने उस सहदेवपुत्र से उन दोनों किरणों को शीघ्र ग्रहण कर लिया। हे अश्विन् देवताओ! सहदेव का यह सोमक आपके लिए दीर्घजीवी हो। हे अश्विन् देवताओ! उस युवा सहदेव के सोमक को दीर्घायु कीजिए।

अश्विनों के द्वारा चंगे होनेवाले सदैव आकाशीय पदार्थ ही होते हैं। ये अश्विन देवताओं के वैद्य हैं। जिस प्रकार त्वष्टा देवताओं के बढ़ई और इन्द्र देवताओं के राजा हैं, उसी प्रकार अश्विन देवताओं के वैद्य हैं। न इन्द्र आदि राजा ही मनुष्य हैं, न उनकी प्रजा—देवता ही मनुष्य हैं, न उनके वैद्य ही मनुष्य हैं और न उनके सोमक सहदेव रोगी ही मनुष्य हैं। वैद्यक में तो सहदेव, सोमक दवा के नाम हैं[1]।

कहने को तो कोई भी कह सकता है कि यजुर्वेद में आई हुई अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका भी महाभारत कालीन रानियाँ हैं, परन्तु वेद में तो वे ओषधियों की ही वाचक हैं। वेदों की ऐसी घटनाएँ समझने के लिए यहाँ हम इस विषय को भी लिखना चाहते हैं।

अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका

वेद में दवा को अम्ब कहा गया है। यजुर्वेद १२।७६ में लिखा है कि '**शतं वो अम्ब धामानि...इमं मे अगदं कृत**', अर्थात् हे अम्ब! मुझे आरोग्य कीजिए। यहाँ रोगी आरोग्य होने के लिए अम्ब (दवा) से कहता है। दूसरी जगह उक्त तीनों अम्बाओं (दवाओं) का होम करना भी कहा गया है, वहाँ लिखा है कि '**सह स्वस्त्राऽम्बिकया तं जुषस्व**'।* इसमें स्पष्ट कह दिया है कि अम्बिका की बहिनों के साथ हवन करो। यजुर्वेद ३।६० में भी कहा गया है कि '**त्र्यम्बकं**

१. सहदेवः, दैवः सह, सहदेवी के नाम हैं, और 'बहुमूत्रं नाशयति' यह गुण है। इसी से सोमक कही गई है। देखो शालिग्रामनिघण्टु।

* यजुः० ३।५७

यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्', अर्थात् तीनों अम्बाओं का मैं सुगन्धि और पुष्टि बढ़ाने के लिए हवन करता हूँ। इन तीनों ओषधियों के लिए यजुर्वेद में कहा है कि—

अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥ —यजुः० २३।१८

यहाँ उक्त तीनों को एक ही स्थान पर कह दिया है[1]। इसके सिवा यह भी बतला दिया कि वे काम्पील में होती हैं। काम्पील से महाभारत की उक्त कन्याओं का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। वे तो काशीनरेश की कन्याएँ थीं, और हस्तिनापुर में ब्याह कर आई थीं, अतः यह काम्पील या काम्पिल्य फर्रुख़ाबाद ज़िलेवाला कम्पिला नहीं है। काम्पील नाम एक ओषधि का है, जिसके साथ ही अम्बिका आदि ओषधियाँ उगती हैं[2]।

अब देखना चाहिए कि वैद्यक में उक्त ओषधियों की चर्चा है या नहीं। भावप्रकाश में लिखा है कि—

माचिका प्रस्थिकाम्बष्ठा तथाम्बाऽम्बालिकाऽम्बिका। —भा० हरीतक्यादिवर्ग १७०

अब सिद्ध हो गया कि यजुर्वेद में महाभारतकालीन कन्याओं और रानियों की चर्चा नहीं है, प्रत्युत वहाँ ये ओषधियों के नाम हैं।

जिस प्रकार यह ओषधियों का वर्णन है उसी प्रकार 'सोमकः साहदेवः' का भी वर्णन ओषधियों के लिए ही हुआ है, अन्यथा सूर्यवंशी अम्बरीष के साथ चन्द्रवंशी सहदेव का नाम क्यों आता? परन्तु ऋग्वेद १।१००।१७ वाले मन्त्र में कहा गया है कि पानी के बिना अम्बरीष—आमड़े का वृक्ष और सहदेवः—सहदेई का वृक्ष भयमान होते हैं।

इसी प्रकार हमने यहाँ तक चन्द्रवंश के कतिपय राजाओं के नामों को जो वेदों में पाये जाते हैं, उन्हीं मन्त्रों के अन्य शब्दों से जाँचा और पुराणोक्त चमत्कारी वर्णनों से मिलाया तो वे राजा नहीं—मनुष्य नहीं प्रत्युत सृष्टि के कुछ अन्य ही पदार्थ सिद्ध हुए। हमें तो आश्चर्य है कि जो लोग इन शब्दों से राजाओं का अर्थ ग्रहण करते हैं, वे उन्हीं मन्त्रों में आये हुए अन्य शब्दों का क्या अर्थ करते होंगे? सहदेव और सोमक को, पुरु, द्रुह्यु आदि पाँचों भाइयों को तथा अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका को एक ही जगह देखकर शायद कोई इतिहास प्रेमी हठ करे कि यह घटना अलौकिक नहीं है। उनसे निवेदन है कि वे तनिक संसार की शैली पर ध्यान दें। वेद में कृष्ण और अर्जुन एक ही स्थान पर आये हैं, परन्तु दूसरे स्थान पर **'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च'** (ऋ० ६।९।१) कहकर वेद में ही बतला दिया है कि दोनों का अर्थ दिन है। यहाँ लोक में दोनों पुरुषों की अटूट मित्रता से ही कृष्ण अर्जुन नाम रख दिये गये हैं। कानपुर में हमारे मित्र पं० बेनीमाधवजी प्रसिद्ध पण्डित हैं। आपके चार पुत्र थे। चारों के नाम आपने राम, लक्ष्मण, भरत

---

१. 'त्र्यम्बकं यजामहे०' इस मन्त्र का अर्थ यही होता है कि अम्बा, अम्बिका और आम्बालिका नामी तीनों दवाओं का हवन करना चाहिए। 'त्र्यम्बकं' पद पाणिनि के 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' (अष्टा० ५।१।५८) इस सूत्र से उसी प्रकार सिद्ध होता है, जिस प्रकार 'सप्तकम्', 'पञ्चकम्' आदि।

२. काम्पीलं गुंडारोचनं सुनामख्यातगन्धद्रव्ये गन्धद्रव्यविशेषः' अर्थात् काम्पील को वैद्यक शास्त्र में गुंडारोचन नामक गन्धद्रव्य कहते हैं। जहाँ पर यह ओषधि होती है वहीं पर उक्त तीनों ओषधियाँ भी होती है, और उस जगह को भी काम्पील कहते हैं।

और शत्रुघ्न रक्खे थे, जिनमें राम और लक्ष्मण अब तक चिरंजीव हैं। प्रयाग ज़िले के बघेला ताल्लुक़ेदार कुँवर भरतसिंहजी यू०पी० में सिशन जज थे, वे चार भाई थे। चारों के नाम राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न थे।

ये घटनाएँ बतलाती हैं कि आदर्श शब्दों से ही लोग नामों का अनुकरण करते हैं। रामायण से जिस प्रकार राम, लक्ष्मण नाम रक्खे गये और वेद से जिस भाँति कृष्ण, अर्जुन नाम रक्खे गये उसी प्रकार वेदों को ही देखकर सहदेव, सोमक और अम्बा, अम्बिका, तथा पुरु, द्रुह्यु आदि नाम भी रक्खे गये हैं। मनुस्मृत में लिखा है कि **'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'**[1] अर्थात् वेदों के शब्द पहले के और मनुष्यों के नाम बाद के हैं।

इस वर्णन से सहज ही ज्ञात होता है कि जिनको परिश्रम नहीं करना और जिनको पाश्चात्य विद्वानों के कथन पर वेद से अधिक विश्वास है, वे उनसे प्रभावित होने के कारण ही वेदों से इतिहास निकालने का श्रम करते हैं।

कृष्ण की व्रजलीला और विभूतियाँ

एक दिन हमने भी वेदों से भागवत के दशम स्कन्ध की वे घटनाएँ निकालना शुरू की थीं, जो श्रीकृष्णभगवान् को कलंकित करती हैं। हमारे इस खेल का अच्छा परिणाम निकला और भागवत तथा गीता से सम्बन्ध रखनेवाली दो बड़ी घटनाओं पर बहुत बड़ा प्रकाश पड़ा। पहले हम वे मन्त्रांश एकत्र करते हैं, जिनमें कृष्ण की व्रजलीला दिखलाई पड़ती है।

१. **स्तोत्रं राधानां पते।** —ऋ० १।३०।५

२. **गवामप व्रजं वृधि।** —ऋ० १।१०।७

३. **दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठत्।** —ऋ० १।३२।११

४. **त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वाग्ने अरुषो वि भाहि।** —*ऋ० ३।१५।३

५. **तमेतदाधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च।** —ऋ० ८।९३।१३

६. **कृष्णा रूपाण्यर्जुना वि वो मदे।** —ऋ० १०।२१।३

इन मन्त्रों में राधा, गौ, व्रज, गोप, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन सभी मण्डली एकत्र हो गई है। इसी मण्डली के आधार पर भागवत की रचना हुई है, परन्तु मन्त्रों में आये हुए अन्य शब्दों को देखने पर पता लगेगा कि ये सब आकाशीय पदार्थ हैं।

ऋ० ६।९।१ में कहा है कि **'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च'** अर्थात् अर्जुन और कृष्ण दोनों दिन के नाम हैं। इसी प्रकार राधा, धन और अन्न को कहते हैं। गो, किरणें हैं और व्रजकिरणों का स्थान द्यौ है और भी सब इसी प्रकार के आकाशीय पदार्थ हैं। वेदों के इस कृष्णार्जुन अलङ्कार से ही भागवत और गीता का वह स्थान बनाया गया है, जिसमें कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है कि वृक्षों में पीपल मैं हूँ, इत्यादि। ऋग्वेद में सूर्य, इन्द्र और विद्युत्, अर्थात् आकाशस्थ आग्नेय शक्तियाँ कहती हैं कि—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥ —ऋ० ४।२६।१

---

१. मनु० १।२१

अर्थात् हम मनु, सूर्य, कक्षीवान्, उशना आदि पदार्थ हैं। शुक्र की टेढ़ी चाल भी हम ही हैं। यहाँ गीता का यह वाक्य भी कि 'कवियों में उशना कवि मैं हूँ', स्पष्ट हो जाता है। यह उशना कोई मनुष्य नहीं हैं। उशना नाम शुक्र का है। इसकी चाल बड़ी टेढ़ी-बाँकी होती है। वेद में नक्षत्रों की इस चाल को काव्य कहते हैं। **'पश्य देवस्य काव्यम्'**[1] यह वाक्य नक्षत्र काव्य के लिए कहा गया है। इसलिए जो प्रकाश कृष्ण और अर्जुन है, वही उशना काव्य भी है। महाभारत[2] आदिपर्व ४।७७ में लिखा है कि **'उशनस्य दुहिता देवयानी'**, अर्थात् देवयानी उशना की लड़की है। इससे और भी स्पष्ट हो गया है कि उशना शुक्र ही है। इस प्रकार से भागवत की व्रजलीला और गीता की विभूतियाँ सूर्य, किरण, वर्षा, अन्न, प्रकाश, ग्रह, ग्रहगति, और विद्युत् आदि ही हैं। इन वैदिक वर्णनों को शब्द-साम्य के कारण कथाओं के रूप में लिखकर पौराणिक कवियों ने व्यर्थ ही बात का बतंगड़ बना दिया है।

हमने किया तो था एक खेल, सुलझ गई यह उलझन कि भागवत और गीता किस प्रकार के अलङ्कारों से कथाओं की सृष्टि करते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि पुराणों में जो असम्भव कथाएँ लिखी हैं, वे वेद के आकाशीय वर्णन हैं, जिनको तत्तन्नामवाले राजाओं के साथ मिला दिया है। यहाँ तक हमने चन्द्रवंश से सम्बन्ध रखनेवाले राजाओं का वर्णन किया, अब सूर्यवंश के राजाओं के भी दो-एक नमूने देख लेने चाहिएँ।

राजा इक्ष्वाकु

पुराणों में सूर्यवंश का मूल पुरुष मनु है और उसका आदि पुरुष राजा इक्ष्वाकु है। मनु शब्द भी वेदों में आया है, परन्तु वह **'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहम्'** (ऋ० ४।२६।१) के अनुसार आकाशस्थ पदार्थ ही है। इक्ष्वाकु शब्द ऋग्वेद में एक ही जगह आया है। ऋ० १०।६०।४ में उल्लेख है—**'यस्य इक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान् मराय्येधते। दिवीव पंच कृष्टयः'**। यहाँ रायी, दिवि और कृष्टय शब्द हैं। इनसे ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकु कोई कृषि-सम्बन्धी वस्तु है। अथर्ववेद में स्पष्ट कह दिया गया है कि वह ओषधि है।

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठकाम्यः।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः॥ —अथर्व० १९।३९।९

अर्थात् जिसको (लोग) इक्ष्वाकु जानते हैं, कुष्ठकाम्य जानते हैं और खाद्य जानते हैं, ऐसी तू सर्वोषधि है।

सुश्रुत सूत्रस्थान ४४।७ में लिखा है कि **'इक्ष्वाकु कटुतुम्बिका'**, अर्थात् इक्ष्वाकु कटु तुम्बी है। दूसरी जगह कहा है—

इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णं वा पूर्ववदेवं क्षीरेण। कासश्वासच्छर्दिकफरोगेषूपयोगः॥
—सुश्रुत० सूत्रस्थान ४४।७

अमरकोष में भी **'इक्ष्वाकुः कटुतुम्बी स्यात्'** लिखा हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में धन और कृषि से सम्बन्ध रखनेवाली यह अथर्ववेद की भेषज भी ओषधि ही है। इसको राजा या मनुष्य बनाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है।

---

१. अथर्व० १०.८.३२
२. महाभारत में अनुपलब्ध।

राजा अम्बरीष

हम ऊपर लिख आये हैं कि अम्बरीष का वर्णन सहदेव के साथ आया है और वहाँ इसका अर्थ आमड़ा वृक्ष ही होता है। दूसरे स्थान पर अमरकोष में अम्बरीष भड़भूँजे के भाड़ को भी कहते हैं। इससे अम्बरीष राजा सिद्ध नहीं होता।

राजा त्रिशंकु

यह राजा भी सूर्यवंश का है। इसके लिए प्रसिद्ध है कि यह भूमि और आसमान के बीच में लटका है। इससे समझ लेना चाहिए कि यह न तो मनुष्य है और न राजा। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः। नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन्॥
अवाक्शिरस्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः। अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम्॥[१]
त्रिशङ्कुर्विमलो भाति राजर्षिः सपुरोहितः। पितामहः पुरोऽस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम्॥
—युद्ध कां० सर्ग ४[२]

दक्षिण दिशा लङ्का में रामचन्द्रजी ने इस तारे को देखकर कहा कि ये हमारे पूर्व पितामह त्रिशङ्कु हैं। लङ्का से देखने पर यह मध्यरेखा के नीचे लटका हुआ दीखता है, इसलिए इसे पृथिवी और आकाश के बीच में लटका हुआ कहा गया है।

इस प्रकार आकाशीय और औषधादि पदार्थों के वर्णनों को, उसी-उसी नामवाले राजाओं के वर्णनों के साथ मिलाकर पुराणकारों ने सच्चे इतिहास को असम्भव और इतिहास-शून्य वेदों को ऐतिहासिक कर दिया है, किन्तु समय फिरा है—खोज चल रही है, इससे आशा है कि सब झगड़ा तय हो जाएगा। यहाँ तक हमने राजाओं का दिग्दर्शन कराया अब आगे ऋषियों के नामों का अर्थ दिखलाया जाएगा।

ऋषियों के नाम

हम अभी यह दिखला आये हैं कि वेदों में जिन पदार्थों का वर्णन है वे संसार के राजा नहीं, प्रत्युत वे या तो आकाशीय पदार्थ हैं या वनौषधि हैं। यहाँ इस प्रकरण में हम उन शब्दों का अर्थ दिखलाना चाहते हैं, जिनका अर्थ लोग ऋषि, ब्राह्मण अथवा तपस्वी करते हैं।

हमें जहाँ तक पता लगा है हम कह सकते हैं कि ये ऋषिवाचक शब्द या तो नक्षत्र, किरण आदि आकाशीय चमत्कारी पदार्थों के वाचक हैं अथवा वे मनुष्य-शरीर में स्थित इन्द्रियों के वाचक हैं। यहाँ हम पहले आकाशस्थ पदार्थवाची शब्दों को लिखते हैं।

अगस्त्य ऋषि प्रसिद्ध हैं, परन्तु एक अगस्त्य नामक तारा भी प्रसिद्ध है जो वर्षा के अन्त में दिखलाई पड़ता है। उसके उदय होते ही वर्षा बन्द हो जाती है। इसपर से यह कथा गढ़ी गई है कि अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया, किन्तु तुलसीदास अपनी रामायण में लिखते हैं कि **'उदय अगस्त पंथजल सोखा'**, इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह अगस्त्य तारा ही है, ऋषि नहीं।

महाभारत में लिखा है कि—

१. वा०रा० बाल० ६०।३१-३२
२. वा०रा० युद्ध० ४।४९

ब्रह्मराशिर्विशुद्धश्च शुद्धाश्च परमर्षयः। अर्चिष्मन्तः प्रकाशन्ते ध्रुवं सर्वे प्रदक्षिणम्॥

—महा० आदि० अ० ७१[१]

अर्थात् सप्तर्षि ध्रुव की प्रदक्षिणा करते हैं। यहाँ लोक में भी उत्तर की ओर घूमनेवाले सातों ताराओं को सप्तर्षि कहते हैं। उधर ध्रुव एक राजा का पुत्र प्रसिद्ध ही है। कहते हैं कि यह ध्रुव कभी पृथिवीलोक में मनुष्य था, परन्तु अब नक्षत्र है, जिसकी प्रदक्षिणा सात तारे करते हैं। ऋग्वेद में उत्तानपाद का वर्णन है जो ध्रुव से सम्बन्ध रखता है, परन्तु पुराणों ने उत्तानपाद, ध्रुव और सप्तर्षियों को मनुष्य बना डाला है, जिससे वेद में आये हुए इन शब्दों से इतिहास का भ्रम होने लगता हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्। तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति॥

तत्राष्टाशीतिसाहस्रा मुनयो गृहमेधिनः। सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः॥

—याज्ञ० स्मृ० प्रा०[२]

हम पहले कह आये हैं कि वैदिक साहित्य में आकाश भी एक संसार है। वहाँ गली, ग्राम, नगर, राजा, युद्ध, ऋषि आदि सभी कुछ हैं। उसी के अनुसार ऊपर के श्लोकों का भी अर्थ है कि उत्तर गोलार्ध में नागवीथी के अन्त में सप्तर्षि हैं और दक्षिण गोलार्ध में अगस्त्य तारे के पास जहाँ अजवीथी है, वहाँ ८८,००० मुनि हैं। इस वर्णन से प्रकट हो गया कि तारागणों को ऋषि-मुनि कहा गया है।

यह सब जानते है कि उत्तरस्थित सप्तऋषियों में एक नक्षत्र का नाम वसिष्ठ है। अभी हमने कहा है कि त्रिशङ्कु दक्षिण दिशा में है। इसको स्वर्ग (ऊपर) भेजनेवाले विश्वामित्र ही थे। इसलिए इस त्रिशङ्कु के नीचे ही, दक्षिण में, विश्वामित्र नामी नक्षत्र होना चाहिए, क्योंकि उत्तरस्थित वशिष्ठ और दक्षिणस्थित विश्वामित्र के दिशा-विरोध से ही वसिष्ठ और विश्वामित्र का विरोधालङ्कार प्रसिद्ध हुआ है। इन कौशिक, अर्थात् विश्वामित्र का वर्णन वाल्मीकि रामायण *बालकाण्ड सर्ग ६० में है।

यहाँ हम एक प्रमाण इन कौशिक के विषय का वेद से देते हैं, जिससे प्रकट हो जाएगा कि वे पृथिवी की वस्तु नहीं हैं।

महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।

विश्वामित्रो यदवहत्सुदासंमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः॥ —ऋ० ३।५३।९

इस मन्त्र में कुशिक विश्वामित्र का नाम है और उसे ऋषि भी कहा गया है, परन्तु यह भी कहा गया है कि वह आकाश को रोकता है। इसके आगे कहा गया है कि इन्द्र कुशिक के द्वारा सुदास को हानि पहुँचाता है। सब जानते हैं कि इन्द्र मनुष्य नहीं है। यहाँ इन्द्र सूर्य अर्थ में ही है, इसलिए इस मन्त्र का यही भाव होता है कि सूर्य, कुशिक नामक नक्षत्र के द्वारा सुदास नामक किसी आकाशीय पदार्थ को हानि पहुँचाता है। सुदास को भी लोग राजा कहते हैं, परन्तु यहाँ वह

---

१. हमारे विचार में यह श्लोक महाभारत में कहीं नहीं है। —सम्पादक

२. याज्ञ० प्रायश्चित्त० १८४, १८६, १८७

भी आकाश से ही सम्बन्ध रखनेवाला कुछ पदार्थ प्रतीत होता है। इस प्रकार विश्वामित्र, कौशिक और वसिष्ठ आदि सब नक्षत्र ही प्रतीत होते हैं, मनुष्य नहीं—देहधारी ऋषि नहीं।

अथर्ववेद में दो मन्त्र इस प्रकार हैं—

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥
विश्वामित्र जमदग्ने वशिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेवः।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥ —अथर्व० १८।३।१५, १६

इन दो मन्त्रों में सभी ऋषियों के नाम गिना दिये गये हैं, परन्तु अन्त में कह दिया गया है कि **'सुसंशासः पितरः'** अर्थात् ये प्रसंशा करने योग्य पितर हैं। ये पितर सूर्य-चन्द्र की किरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विषय पर अथर्ववेद का यह मन्त्र प्रकाश डालता है—

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥ —अथर्व० २।३२।३

अर्थात् हम अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त आदि की भाँति कीड़ों को मारते हैं। अब देखना यह है कि ये अत्रि आदि कौन हैं और क्रिमियों को कौन मारता है। ऋग्वेद ५।४०।८ में लिखा है कि **'अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्',** अर्थात् अत्रि सूर्य से सम्बन्ध रखता है। दूसरे स्थान पर ऋ० ५।५१।८ में कहा है कि **'आ याह्यग्ने अत्रिवत्',** अर्थात् हे अग्ने! तुम अत्रि की भाँति आओ। सूर्य से सम्बन्ध रखनेवाले और अग्नि की भाँति आनेवाले तथा कीड़ों को मारनेवाले ये अत्रि आदि पितर=किरण नहीं हैं तो और क्या हैं? अथर्ववेद २।३२।१ में तो स्पष्ट ही लिखा हुआ है कि **'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः',** अर्थात् सूर्य उदय होकर अपनी रश्मियों से क्रिमियों को मारता है। कितना स्पष्ट वर्णन है। इस वर्णन से अब अच्छी प्रकार समझ में आ गया कि अत्रि, कण्व और जमदग्नि आदि सब रश्मियाँ ही हैं, जो कीड़ों को मारती हैं। इसलिए ऊपर कहे हुए पितर नामी समस्त ऋषि, मनुष्य नहीं प्रत्युत किरणें ही हैं और रोग-जन्तुओं को नाश करनेवाली हैं। वर्त्तमान कालीन डाक्टर भी मानते हैं कि सूर्यरश्मियों से हर प्रकार के रोगजन्तु नष्ट हो जाते हैं[१]। वेदों में नक्षत्र और किरणवाले सैकड़ों प्रमाण हैं, जो ऋषियों के नाम से कहे गये हैं, परन्तु यहाँ हम विस्तारभय से बहुत नहीं लिखते।

ये तमाम ऋषि जिस ब्राह्मण-राजा के राज्य में रहते हैं, उसका भी वर्णन वेद में सुन्दर रीति से इस प्रकार किया गया है—

विप्रराज्य अर्थात् चन्द्रराज्य

अयं सहस्त्रं ऋषिभिः सहस्कृतः समुद्रइव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ —ऋ० ८।३।४

यहाँ हज़ारों ऋषियों को विप्रराज्य, अर्थात् चन्द्रमा के राज्य में बसनेवाले कहा है। चन्द्रमा को विप्र और द्विजराज आदि कहते ही हैं। चन्द्रोदय में ही—रात्रि में ही नक्षत्रों का प्रकाश होता

१. Light, especially the light of the sun, has a truly wonderful effect on nearly all forms of germs. Almost without exception they are killed by the rays of the sun.
—*Medical Science of To-day by Dr. Willmott Evans M.D.*

है। चमकनेवाले सभी ताराओं में चन्द्रमा अधिक विशाल और तेजस्वी है, अतः उसे सबका राजा कहा है और शीतल होने से विप्र कहा गया है।

बस आकाशस्थ ऋषियों का इतना ही वर्णन करना है। इसके आगे अब यह दिखलाना है कि शरीरस्थ इन्द्रियों को भी ऋषि कहा गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥ —यजुः० ३४।५५

अर्थात् शरीर में सात ऋषियों का वास है। उनके सोने पर भी दो जागा करते हैं।

अथर्ववेद में लिखा है कि—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ —अथर्व० १०।८।९

अर्थात् शिर में सात ऋषियों का निवास है। इन ऋषियों से अभिप्राय आँख, कान और नाक आदि से ही है।

यजुर्वेद के '**अयम्पुरोभुवः**' आदि मन्त्रों में (जिनके द्वारा पार्थिवपूजन के समय प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है) कहा गया है कि वसिष्ठ प्राण है, प्रजापति मन है, जमदग्नि चक्षु हैं, विश्वामित्र श्रोत्र हैं, और विश्वकर्मा वाणी है, अर्थात् वेद में आये हुए ऋषियों के वर्णन या तो आकाश-सम्बन्धी अर्थ रखते हैं या शरीर-सम्बन्धी। खींचतान करके लोग उनको मनुष्य बनाने का जो उद्योग करते हैं वह निरा पोच, निस्सत्त्व और लचर है।

अब हम मनुष्य-सम्बन्धी वर्णनों को यहीं पर समाप्त करते हैं। जिन राजाओं और ऋषियों का वर्णन हमने ऊपर किया है उन्हीं से, अथवा उसी प्रकार के अन्य नामों के आ जाने से, लोग इतिहास का भ्रम करने लगते हैं, किन्तु जिस प्रकार हमने इतने नामों का निराकरण किया है और देखा है कि इनमें कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, इसी प्रकार यदि विचारपूर्वक परिश्रम करके ढूँढा जाए तो सभी नामों का कुछ-न-कुछ दूसरा ही अर्थ निकलेगा और इतिहास की गन्ध तक न रहेगी। इन राजाओं और ऋषियों के अतिरिक्त भी बहुत-से शब्द वेदों में आते हैं, जिनका अर्थ सृष्टि की अनेक शक्तियाँ हैं, परन्तु ठीक-ठीक अर्थ न समझने के कारण पौराणिक समय में आलसी लोगों ने उन सबको मनुष्यकल्पित करके सबकी कथाएँ बना ली हैं। इसी प्रकार त्रित और भुज्यु आदि की भी कथाएँ बना ली हैं, परन्तु पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानों ने अब मान लिया है कि ये पदार्थ सृष्टि के चमत्कारी पदार्थ हैं—मनुष्य नहीं। लोकमान्य तिलक महोदय ने 'आर्यों का उत्तरध्रुव निवास' नामी अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर इस विषय को विस्तार से लिखा है। उसी का सारांश हम भी यहाँ लिखते हैं—

'अश्विनों के पराक्रम का वर्णन इस प्रकार है—वृद्ध च्यवन को उन्होंने फिर जवान कर दिया। पतित विष्णायू को स्वाधीन किया। समुद्र में पड़े हुए भुज्यु को सौ पतवारवाली नौका द्वारा बाहर निकाला। दश दिन और नव रात्रि तक पानी में पड़े हुए रेभ को अच्छा करके बाहर निकाला। खाई में पड़े हुए त्रित को अन्धकार से बाहर निकाला। एक वर्तिका को वृक की दाढ से छुड़ाया। ऋज्राश्व को नेत्र दिये। विश्पला की टूटी टाँग के स्थान पर लोहे की टाँग लगा दी। वध्रिमती को हिरण्यहस्त नामक पुत्र दिया। शंय्यू की वृद्ध गाय को फिर दूध देनेवाली कर दिया

और यदु को एक घोड़ा दिया, इत्यादि।'

लोकमान्य तिलक महोदय आगे कहते हैं कि 'इन घटनाओं को मैक्समूलर आदि पाश्चात्य पण्डितों ने शरद् में बलहीन हुए सूर्य को वसन्त में पुनः बलवान् हो जाने के रूपक में लगाया है, परन्तु इनका वास्तविक तात्पर्य तो ध्रुवप्रदेश की घटनाओं से ही है।'

जो हो, परन्तु मनुष्य की घटना तो नहीं है ? मनुष्य की घटना जिन लोगों ने कही है उन्होंने तो ग़ज़ब किया है। उन्हें नहीं सूझा कि 'अश्विन' से सम्बन्ध रखनेवाले इन व्यक्तियों को हम मनुष्य कैसे बता रहे हैं। अश्विन निस्सन्देह आकाशीय पदार्थ है तब वे इन मनुष्यों की सेवा—परिचर्या करने के लिए कैसे आ सकते हैं ? इन्हीं सब बातों को देखकर मैक्समूलर ने कहा है कि 'वेदों में जो संज्ञाएँ (नाम) मिलती हैं, वे ठीक-ठीक नाम हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए'[१]।

मनुष्य-वर्णनों के पश्चात् इतिहास निकालनेवाले गङ्गा-यमुना नदियों के नामों को इतिहास-सिद्धि का प्रबल प्रमाण समझते हैं और इसी पर बड़ा बल देते हैं, अतः हम चाहते हैं कि आगे नदियों के नामों का विवेचन करके देखें कि वेदों में नदियों के नामों से क्या भाव निकलता है और नदियों से क्या तात्पर्य है।

नदियों के नाम

जिन शब्दों से यहाँ लोक की नदियाँ पुकारी जाती हैं, वेदों में उन्हीं शब्दों के कई अर्थ होते हैं। उन शब्दों का जो धात्वर्थ है वह 'चलनेवाला—बहनेवाला—वेगवाला' आदि होता है। नदियाँ भी इसी प्रकार का गुण रखती हैं। वे भी चलनेवाली, बहनेवाली और वेगवाली होती हैं, इसीलिए लोक में वे शब्द केवल नदियों के लिए ही रूढ हो गये हैं, किन्तु वेद में उन शब्दों से किरण, नदी, वाणी आदि अनेक भावों का वर्णन किया गया है, परन्तु जिन लोगों को वेद में परिश्रम करना स्वीकार नहीं है, वे दूसरे भावों को निकालने का कष्ट न करके नदी अर्थ करके ही छुट्टी पा जाते हैं।

वेद में गङ्गा, यमुना और सरस्वती आदि नामों के आ जानेमात्र से संयुक्तप्रान्त में बहनेवाली उक्त नदियों का वर्णन बताना बहुत ही सरल प्रतीत होता है, परन्तु जिन मन्त्रों में नदियों का वर्णन बतलाया जाता है, उन्हीं मन्त्रों में नदीवाची शब्दों के अतिरिक्त जो अनेक चमत्कारिक शब्द आते हैं (जिनमें आकाश अथवा मनुष्य-शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं) उन शब्दों का क्या अर्थ लगाया जाता है, समझ में नहीं आता। हमने लोगों के नदी-सम्बन्धी ऐतिहासिक वर्णन देखे हैं। वे वर्णन नहीं, किन्तु आलस्य और लापरवाही का चित्र है। लेखकों ने यह भी ध्यान नहीं रक्खा कि इनको पढ़कर लोग क्या कहेंगे।

आगे हम मन्त्रों के वे अंश उद्धृत करके दिखलाना चाहते हैं, जिनमें नदीवाची और चमत्कारपूर्ण शब्दों का दिग्दर्शन होता है। हम उचित समझते हैं कि इस विषय में अपने उस सिद्धान्त की फिर याद करा दें जिसमें हमने बतलाया है कि पौराणिक काल में चमत्कारिक वर्णनों के साथ एतिहासिक वर्णनों का सम्मिश्रण हुआ है, अतएव उसको लक्ष्य में रखकर ही समस्त वर्णन पढ़ना चाहिए।

---

१. Names........are to be found in the Vedas, as it were, in still fluid state. They never appear as appellations not yet as proper names. They are organic not yet broken or smoothed down.
—*Maxmuller's History of Ancient Sanskrit Literature.*

गङ्गा और यमुना के लिए प्रसिद्ध है कि गङ्गा विष्णु के चरण से निकली है और यमुना सूर्य की कन्या है। '**इदं विष्णुर्विचक्रमे**'[1] आदि मन्त्रों से सिद्ध हो चुका है कि वेद का विष्णु, सूर्य के सिवा और कुछ नहीं हैं। जब गङ्गा और यमुना का सम्बन्ध सूर्य से है तो वे संयुक्तप्रान्त में बहनेवाली नदियाँ नहीं हो सकतीं। अमरकोश में लिखा है कि—

गङ्गा विष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा। भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्रोता भीष्मसूरपि॥[2]

अर्थात् गङ्गा का नाम विष्णुपदी है, निम्नगा, अर्थात् नीचे जानेवाली है और तीन रास्तों तथा तीन स्रोतोंवाली है।

विष्णु सूर्य है। सूर्य के पैर से गङ्गा निकली है और नीचे जानेवाली है। यमुना के लिए भी लिखा है कि '**कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा**'[3], अर्थात् यमुना और सूर्यतनया एक ही वस्तु है। सूर्य से उत्पन्न होनेवाली ये दोनों क्या सूर्य की किरण ही नहीं है?

असिक्नी नदी के लिए ऋग्वेद ४।१७।१५ में लिखा है कि '**असिक्न्या यजमानो न होता**', अर्थात् असिक्नी का सम्बन्ध यज्ञ से है। दूसरे स्थान पर ऋ० ४।२१।४ में लिखा है कि '**यो वायुना यजति**[4] **गोमतीषु**', अर्थात् जो वायु द्वारा गोमती में होम करता है। तीसरे स्थान पर ऋग्वेद १०।१७।९ में कहा है कि '**सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते**', अर्थात् उस सरस्वती को जिसमें पितर हवन करते हैं। यहाँ ये तीनों नदियाँ यज्ञ और हवन से सम्बन्ध रखनेवाली हैं, इसलिए स्पष्ट ही वे किरण की बोधक हैं।

वेद में सूर्य की दश रश्मियों का वर्णन है। ऋग्वेद ८।७२।८ में '**आ दशभिः....खेदयः**' और ९।९७।२३ में '**रश्मिभिर्दशभिः**' आया है। दूसरे स्थान पर ऋग्वेद १०।२७।१६ में कहा है कि '**दशानामेकं कपिलम्**', अर्थात् इन दश में एक का नाम कपिल है। शेष नव के लिए जो नाम आये हैं वे वही गङ्गा-यमुना आदि हैं, यथा—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणु ह्यासुषोमया॥ —ऋ० १०।७५।५

अर्थात् गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता और आर्जिकीया आदि सोम से सम्बन्ध रखती हैं। ये गङ्गा आदि नाम उक्त नव किरणों के हैं। दशमीं किरण कपिल कहलाती है। अन्य स्थान में इनके नव नाम ही गिनाये गये हैं[5]।

इन दशों के लिए ऋ० ५।४७।४ में कहा है कि '**दश गर्भं चरसे धापयन्ते**', अर्थात् उक्त दशों पृथिवी में गर्भ धारण करती हैं। सूर्य की दश किरणें पृथिवी पर आकर गर्भ—भर्ग=प्रकाश देती हैं। इन्हीं दश किरणों को सूर्य के १० पुत्र भी कहा गया है जो पृथिवी में पैदा होते हैं। वह प्रसिद्ध मन्त्र यह है।

---

१. यजुर्वेद ५।१५
२. अमर० वारि० १।३१
३. अमर० वारि० १।३२
४. ऋग्वेद में 'यजति' नहीं 'जयति' पाठ है।
५. **इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।**
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥ —यजु:० ८।४३

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥
—ऋ० १०।८५।४५

यहाँ इन्द्र शब्द सूर्य का द्योतक है। वह पृथिवी में अपनी उक्त दशों किरणों से गर्भ धारण करता है। वही किरणें लौटकर उसके दश पुत्र हो जाते हैं।

ऊपर गङ्गा, यमुना आदि नदियों को जो सूर्य से उत्पन्न लिखा है, उसका भी यही तात्पर्य है कि वे सूर्य की किरणें हैं। दशों दिशाओं में फैली हुई इन दश किरणों में से सात प्रधान हैं। वेदों में उन सात किरणों का भी नदियों के नाम से ही वर्णन आता है। ऋग्वेद ४।१३।३ में लिखा है कि **'तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति'**। यहाँ सूर्य, हरित (किरणें), सप्त और वहति क्रिया—ये चार पद सात किरणों के बहने का स्पष्ट वर्णन कर रहे हैं। दूसरे स्थान पर ऋ० १।१८१।६ में **'वेषन्तीरूर्ध्वा नद्यो न आगुः'** कहकर नदियों का ऊपर से सम्बन्ध दिखलाया है। तीसरे स्थान पर ऋ० ५।५२।१७ में कहा है कि **'सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः। यमुनायामधि श्रुतम्'**। यहाँ सात के साथ यमुना को कहा है, परन्तु ऐतिहासिक लोग जहाँ सप्तसिन्धु में सात नदियाँ बतलाते हैं वहाँ यमुना नहीं है। यमुना तो संयुक्तप्रान्त से ही निकली है। ऊपर हम यमुना को सूर्यपुत्री लिख आये हैं, इसलिए यमुना से सम्बन्ध रखनेवाली ये सातों नदियाँ सूर्य की पुत्री ही हैं, अर्थात् सातों सूर्य की रश्मियाँ ही हैं। ऋग्वेद ८।६९।१२ में आये हुए **'सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥'** मन्त्र का अर्थ लोकमान्य तिलक महोदय ने यह किया है कि 'आकाश में बहनेवाली और अन्त में वरुण के मुख में पड़नेवाली सात नदियाँ है'। इससे भी वे अकाशीय किरण ही सिद्ध होती है। अन्य स्थान पर कहा है कि—

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठिति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥ —ऋ० १।१२५।५

अर्थात् सूर्य के पृष्ठ भाग में जहाँ देवताओं के साथ जीव जाता है, वहाँ सिन्धु—नदियाँ उत्तम जल बहाती हैं।

यह भी किरणों का ही वर्णन है।

यह प्रसिद्ध है कि ऋग्वेद के ९वें मण्डल का ११३वाँ सूक्त मोक्षस्थान का वर्णन करता है और मोक्षधाम सूर्य के पृष्ठभाग को बतलाता है। वहाँ भी बड़ी-बड़ी सात नदियों का वर्णन है। ये नदियाँ सिवा किरणों के और क्या हो सकती हैं? वह मन्त्र यह है—

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्र अमूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधि॥
—ऋ० ९।११३।८

अर्थात् जहाँ वैवस्वत राजा है, जहाँ सूर्य-अवरोधन है और जहाँ बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, वहाँ मुझे अमर कर।

यह समग्र सूक्त मोक्षस्थान के विषय का है और नदियों की भाँति किरणों का वर्णन करता है। इन सातों किरणों के नाम ये हैं—

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥ —ऋ० १०।७५।६

इस मन्त्र में तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुभा, गोमती और मेहत्नु के साथ मिली हुई क्रुमु है। इन सात नदीरूपी किरणों के लिए वेद में (**त्रिवृतं सप्ततन्तुम्**—ऋ० १०।५२।४ आदि में) 'त्रिवृत' शब्द बहुत बार आता है। त्रिवृत का अर्थ है तिहरा। तिलड़िया सूत की भाँति ये किरणें भी तिहरी हैं। इसमें एक बहुत बड़े विज्ञान की बात कही गई है। ऊपर से जो सात किरणें आती हैं वे तिहरी होती हैं, अर्थात् उनमें तीन वस्तुएँ होती हैं। वे तीन वस्तुएँ अप, जल और अग्नि हैं। अप, आकाश तत्त्व है, जिसे ईथर कहते हैं। उसी के सहारे सूर्य की किरणें आती हैं, जो अग्नि हैं। वे आग्नेय किरणें पृथिवी अथवा बादलों से जल लेती हैं, इसलिए जलीय भी हैं। इस प्रकार वे त्रिवृत रहती हैं। यहाँ नमूने के लिए ऋ० ९।६६।६ का मन्त्र देखिए '**तवेमे सप्तसिन्धवः प्रसिषं सोम सिस्रते। तुभ्यं धावन्ति धेनवः**', अर्थात् सोम से भीगे हुए सप्तसिन्धुओं में धेनु दौड़ती हैं। दूसरे स्थान पर ऋ० १।५०।९ में कहा है कि '**अयुक्त सप्तशुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः॥ ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः**'। यहाँ 'युक्तिभिः' से सूचित किया जाता है कि तीनों पदार्थ युक्ति से एक दूसरे में लिपटे हुए हैं। अन्त में स्पष्ट कह दिया है कि '**अस्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु**' (ऋ० ५।४१।१९)। इस मन्त्र में नदी के साथ उर्वशी का सम्बन्ध दिखता है। पुरूरवा प्रकरण में हमने दिखला दिया है कि '**उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ**'[१] के अनुसार उर्वशी अप्सरा सूर्य की किरण ही हैं। किरणें सात और दश हैं जो ऊपर बतलाई गई हैं। यहाँ सप्तसिन्धु से जो लोग सिन्ध हैदराबाद और पंजाब का इतिहास ढूँढते हैं वे कितनी ग़लती करते हैं, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो जाता है। तिलक महोदय ने विस्पष्ट कह दिया है कि सप्तसिन्धु से पंजाब सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पंजाब में तो सात नदियाँ हैं ही नहीं।

यजुर्वेद में एक मन्त्र है जिसमें पाँच नदियों का वर्णन है और देश शब्द भी आया है। इसमें भी कुछ लोग पंजाब का वर्णन बतलाते हैं, परन्तु मन्त्र में कुछ और ही वर्णन है। वह मन्त्र यह है—

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्॥

—यजुः० ३४।११

अर्थात् पाँच नदियाँ अपने-अपने स्रोतों से सरस्वती को जाती हैं और वह सरस्वती पाँच प्रकार की होकर उस देश में बहती हैं। पंजाब की पाँचों नदियाँ न तो सरस्वती को जाती हैं, न पाँच धारा होकर सरस्वती ही बहती है और न सरस्वती पंजाब में बहती ही है। वह तो कुरुक्षेत्र ही में है। पंजाब की तो पाँच नदियाँ ही दूसरी हैं। सरस्वती शब्द के विषय में निरुक्तकार कहते हैं कि—

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक्कसम्माद्वचेः।
तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति॥ —नि० नै० २।२२

अर्थात् वाणी वाचक नामों में से सरस्वती शब्द, वेद में नदी और देवता के लिए आता है। उपर्युक्त मन्त्र में चित्त की पाँच-पाँच वृत्तियाँ ली गई हैं और वे पाँचों स्मृति में ठहरकर वाणी द्वारा फिर पाँचों प्रकार के विचार प्रकट करनेवाली होती हैं। इन इन्द्रियरूपी पाँचों नदियों के नाम ये हैं—

१. यजुः० १५।१९

मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मावः सिन्धुर्निरीरमत्।
मा वः परि ष्ठात् सरयूः पुरीषिण्यस्मे इत् सुम्नमस्तु वः ॥ —ऋ० ५।५३।९

अर्थात् हे मरुत! हमको और आपको रसा, कुभा, क्रुमु, सिन्धु और फैले हुए जलवाली सरयू सुखदायी हो।

इस विवरण का तात्पर्य यह है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का विषय वाणी होकर बहता है और वाणी द्वारा आया हुआ ज्ञान पाँचों इन्द्रियों का विषय होता है। दूसरे स्थान पर **'सहस्त्रधारे वितते पवित्र आवाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः'** —ऋ० ९।७३।७, मन्त्र में भी हजारों धाराओं से बहनेवाले ज्ञान और वाणी को विद्वानों ने पवित्र करनेवाला कहा है, जो नदी रूप से वाणी का ही वर्णन है, इसलिए यह सरस्वती नाम वाणी का ही है जैसाकि यजुः० २०।४३ में कहा है कि **'सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः'**, अर्थात् सरस्वती, इडा और भारती वाणी के ही नाम हैं। यहाँ उक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को भी नदी कहा गया है और वाणी को भी नदी ही बताया है। इस पाँच नदीवाली वाणी को ऋ० २।४०।३ में **'पंचरश्मिम्'** अर्थात् पाँच रश्मिवाली कहा है। इसी प्रकार ऋ० १।३।१२ में **'महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति'॥** आया है, जिसमें बुद्धि को भी सरस्वती कहा है। बुद्धि भी गाम्भीर्य और प्रवाह में नदी की ही भाँति है। इस प्रकार वेद में किरणों को, नदी को, इन्द्रियों को, वाणी को और बुद्धि को नदीवाले शब्दों से वर्णित किया गया है तथा गङ्गा आदि नाम उन्हीं पदार्थों के लिए कहे गये हैं, किन्तु लोक में आर्यों ने अपने व्यवहार के लिए वेद के शब्दों से अपनी व्यवहार्य नदियों के भी नाम रख लिये हैं जो अब तक चल रहे हैं। पारसियों ने ईरान में जाकर सरस्वती शब्द से हरह्वती और सरयू से हरयू नाम रक्खा है। भारतवर्ष में तो सैकड़ों नदियों के गङ्गा और सरस्वती नाम हैं, इसलिए वेद में आई हुई नदियाँ भारत की नदियाँ नहीं है और न वेद में गङ्गा आदि नाम इन गङ्गा-यमुना आदि नदियों के लिए आये हैं। ये नाम किरणों और इन्द्रियों के हैं। शरीर में भी गङ्गा आदि नदियाँ हैं।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ —यजुः० ३४।१५

अर्थात् सात ऋषि इस शरीर की रक्षा करते हैं और 'सप्तापः' अर्थात् सात नदियाँ सोती हैं। शरीर में बहनेवाली ये नदियाँ इन्द्रियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

यह थोड़ा-सा नदियों के विषय का दिग्दर्शन हुआ। पाठकों को चाहिए कि वे वेदों के वे मन्त्र अवश्य देखें जिनमें ऐतिहासिक नदियों का वर्णन बतलाया जाता है। वहाँ उन्हें तुरन्त ही दूसरे अलौकिक वर्णनवाले शब्द मिल जाएँगे और सिद्ध हो जाएगा कि यह इस लोक की नदियों का वर्णन नहीं है।

वेद में नदी के नाम से नदी, किरणें, वाणी और इन्द्रियों का वर्णन आता है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी मन्त्र में नदियों का वर्णन संख्या के साथ नहीं किया गया। इसका कारण है और वह अत्यन्त सत्य नींव पर स्थित है—

कल्पना करो कि आपने कहा कि यहाँ अमुक-अमुक चार नदियाँ हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि अमुक-अमुक चार नदियाँ किसी सीमा के अन्दर हैं, क्योंकि संसार में चार ही नदियाँ नहीं हैं। उदाहरणार्थ पञ्जाब में पाँच नदियाँ हैं, क्योंकि पाँच नदियों से ही वह पञ्जाब कहलाता

है। ये नदियाँ पाँच तभी कहला सकती हैं जब पञ्जाब की सीमा स्थिर हो। जब तक सीमा स्थिर न हो तब तक यही कहा जाएगा कि पाँच ही क्यों हैं? कलकत्ते तक की सभी नदियाँ क्यों नहीं, परन्तु हम देखते हैं कि वेदों में देशों की सीमा का कहीं पर वर्णन नहीं है, इसलिए वेद में आया हुआ संख्यावाचक वर्णन नदियों के लिए नहीं कहा जा सकता।

यहाँ तक हमने वेद में आये हुए राजा, ऋषियों और नदियों से सम्बन्ध रखनेवाले शब्दों को यद्यपि विस्तार से नहीं, तथापि पूरे विवेचन के साथ नमूना दिखलाने के लिए लिखा और उन मन्त्रों में आये हुए अन्य शब्दों के साथ मिलाकर देखा तो यही ज्ञात हुआ कि ये पदार्थ लोक से सम्बन्ध रखनेवाले ऐतिहासिक पदार्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते।

हम मन्त्रों का भाष्य नहीं करते। हमें भाष्य करना पसन्द भी नहीं है। हम तो यहाँ मन्त्र या मन्त्रांश लिखकर उन शब्दों को जिनसे इतिहास निकाला जाता है, उसी मन्त्र को अन्य शब्दों से मिलाकर केवल यह दिखलाते हैं कि दूसरे शब्द इन ऐतिहासिक शब्दों का साथ नहीं देते। बस, इसके सिवा हम और कुछ नहीं करते।

ऐतिहासिक लोग राजाओं, ऋषियों और नदियों के शब्दों पर विशेष बल देते हैं, परन्तु हम चाहते हैं कि आगे इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले नगर और देशों के नामों का भी कुछ वर्णन करके नमूना दिखला दें कि वेद में आये हुए नगर और देशसम्बन्धी शब्द भी कुछ दूसरा ही तात्पर्य रखते हैं।

नगर और देश

वेदों में नगरसम्बन्धी शब्द नहीं है। वेदों में इतिहास बतलाया जाता है। इतिहास मनुष्यों का होता है और मनुष्य किसी ग्राम या नगर में बसते हैं, परन्तु यहाँ की दशा भिन्न है। वेदों में जिन राजा और ऋषियों का इतिहास बतलाया जाता है उनके निवासस्थानों, ग्रामों और नगरों का वर्णन वेदों में नहीं है। इससे यह बात सम्यक् सिद्ध हो जाती है कि वेदों में इतिहास नहीं है। इतिहास निकालनेवालों ने इस प्रश्न को जान-बूझकर छोड़ दिया है।

अभी राजाओं का वर्णन करते हुए हमने अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका के साथ काम्पील नगर को देखा कि उसका सम्बन्ध उक्त बालिकाओं से नहीं है। काम्पील उस स्थान का नाम है जिसमें उक्त ओषधियाँ पाई जाती हों, क्योंकि उक्त अम्बादिकों को काम्पीलवासिनी कहा गया है। यदि उक्त कथाएँ ऐतिहासिक होतीं तो उनका निवास काशी या हस्तिनापुर होता। काम्पील से तो उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, अतः काम्पील शब्द उस कम्पिल नगर के लिए नहीं आया जो कन्नौज के पास है, किन्तु उस स्थान का वाचक है जहाँ ये ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में अयोध्या नगरी का नाम आता है, परन्तु उसका तात्पर्य उस अयोध्या से नहीं, जिसको राजा इक्ष्वाकु ने बसाया था। देखो! वेद की अयोध्या का कैसा उत्तम वर्णन है—

अष्टाचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

—अथर्व० १०।२।३१-३२

अर्थात् आठ परिखा और नव द्वारवाली देवनगरी अयोध्या है। इसमें हिरण्यकोश है जो स्वर्गज्योति से आवृत है। यहाँ तिहरा प्रबन्ध है और यक्ष आत्मा की भाँति बैठा है, जिसको

ब्रह्मविद् लोग जानते हैं।

कहिए कैसी अयोध्या है, कैसा उत्तम वर्णन है और कैसी यह शरीररूपी नगरी है[१]। वैदिक काल में महाराजा मनु के वंशजों ने सरयू तट पर अयोध्या नगरी बसाई थी और वेद के शब्द से ही उसका नाम रक्खा था, क्योंकि उनका दावा है कि **'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे',**[२] अर्थात् वेदशब्दों से ही सब पदार्थों के नाम रक्खे गये हैं। यह नाम वेदों से लिया गया था। इसमें भी नव दरवाज़े हैं[३]। जिस प्रकार आत्मा की रक्षा इस शरीर से होती है और वह सुखपूर्वक इसमें रहकर अपने कल्याण का साधन करता है, उसी प्रकार इस अयोध्या नगरी में महाराजा मनु और इक्ष्वाकु की प्रजा सुख से रहती और अपने कल्याण की साधना करती थी।

वेद में शरीर का नाम अयोध्या है। इसी शरीर पर से इसका नाम अयोध्या रक्खा गया है। वेद के अर्थों का तारतम्य लगाने के लिए यह कितना अच्छा प्रमाण है। बस, नगर-सम्बन्धी ये दो ही उदाहरण हैं, जिनको देकर आगे देश का वर्णन करते हैं।

आश्चर्य की बात है कि जिस देश में आर्यलोग रहते थे, उस देश का नाम भी वेद में नहीं है। ऋषियों ने हज़ारों मन्त्र उषा और अश्विनौ के बना डाले, परन्तु एक भी मन्त्र अपने देश के नाम का न रचा। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जब उन्होंने अपने नगर और गाँव तक का नाम न लिखा तब उनको देश का नाम रखने की कब परवाह होगी। अथवा यह कहा जा सकता है कि वेदकालीन आर्यों में देश का भाव ही पैदा नहीं हुआ था, किन्तु हम देखते हैं कि वेद में व्रज, अर्व, गान्धार, रूम, रूश, अंग, वाह्लीक और मगध आदि नाम पाये जाते हैं जो इस देश में और पृथिवी के अन्य खण्डों में स्थित हैं। इतना सब होने पर भी वेद में आर्यावर्त्त या भारतवर्ष का कुछ भी नाम नहीं है। इसी प्रकार वेद में पञ्जाब और युक्तप्रान्त का भी नाम नहीं है, जहाँ वैदिक आर्य फूले और फले थे। ऋषियों ने भारत और आर्यावर्त्त नाम तो रक्खा, परन्तु वेद ने इन नामों की चर्चा तक नहीं की। वेद में इनका वर्णन होना भी नहीं चाहिए था, क्योंकि जब वेद में इतिहास है ही नहीं तब देश का नाम कैसे हो सकता है ? इसलिए व्रज, अर्व और गान्धार आदि शब्दों से सूचित होता है कि इन शब्दों का अर्थ वर्त्तमानकालीन व्रज, अरब और गान्धार नहीं है।

हम ऊपर कहीं कह आये हैं कि व्रज नाम उस स्थान का है जहाँ गौवें चरती हों और रहती हों। हमारे देश का व्रज चौरासी कोस का है। इस चौरासी कोस में कृष्ण भगवान् के समय में गौवें चरा करती थीं। वेद में कई जगह व्रज की चर्चा आती है। यथा **'व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणः'**[४] अर्थात् राजा बहुत-से व्रज स्थापित करे, किन्तु वेद के इस व्रज से मथुरा के पासवाला व्रज न समझ लेना चाहिए, प्रत्युत यह समझना चाहिए कि यह मथुरा के पासवाला व्रज नाम भी वेद शब्द से ही रक्खा गया है। वेद में गौ-गोष्ठों का ही नाम व्रज है, इसलिए गौ-गोष्ठ होन से वह भी व्रज कहलाता है। ऋग्वेद में सूर्य और द्यौ को भी व्रज कहा गया है, क्योंकि वहाँ भी

---

१. नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन्। —गीता ५।१३
नवद्वारे को पींजरा तामें पंछी पौन। रहने में अचरज घना गये अचंभा कौन।

२. मनु० १।२१

३. जयपुर नगर भी इसी सिद्धान्त के अनुसार नव द्वारों से युक्त है। इस नगर को प्रसिद्ध ज्योतिषियों की सलाह से सवाई जयसिंह ने विधिपूर्वक बसाया था।

४. ऋ० १०.१०१.८

किरणरूपी गौवें रहती हैं।

जिस प्रकार गौवों के बड़े-बड़े गोष्ठों को व्रज कहते हैं, उसी प्रकार जहाँ बहुत ही अच्छे घोड़े होते हैं उस देश के अर्व (अरब) कहते हैं। वेद में अर्वन् और अर्व शब्द अनेक बार घोड़े के लिए आते हैं। अब वर्त्तमान अरब देश की ओर दृष्टि कीजिए और देखिए कि वहाँ कैसे अच्छे घोड़े पैदा होते हैं। अच्छे घोड़े पैदा होने के कारण ही उस देश का नाम अरब या अर्व रक्खा गया था। द्युलोक को भी अर्व कहा गया है, क्योंकि वहाँ किरणरूपी अश्व रहते हैं।

जिस प्रकार अच्छी गौवों के बड़े चरागाह को व्रज और उत्तम घोड़ों के पैदा करनेवाले भूभाग को अर्व (अरब) कहते हैं, उसी प्रकार जहाँ उत्तम भेड़ें (Sheep) पैदा होती हों उस देश को गान्धार कहते हैं।

वैद्यक में गन्धारी कहते हैं जवासे को। जवासा उन दिनों में हरा-भरा होता है जब जेठ मास की लू चलती है और घास जलकर ख़ाक हो जाती है। यह जवासा जहाँ होता है वहाँ उसकी छाया में घास भी होती है और धूप के दिनों में भी मेष-मेषियों के चरने के योग्य कुछ-न-कुछ बनी रहती है। जिस स्थान में अधिक जवासा होगा वहीं पर भेड़ों की अधिक चराई होगी, अतः वही देश गान्धार कहलाएगा। वर्त्तमान काबुल के पासवाले देश का नाम भी इसीलिए गान्धार पड़ा है कि वहाँ की भेड़ें प्रसिद्ध हैं और बहुत हैं। ऋग्वेद में एक मन्त्र है—

उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः। सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥

—ऋ० १।१२६।७

अर्थात् समीप आओ, मुझे छुओ, मुझे कम न समझना, अब मैं गान्धार की भेड़ों की तरह सब शरीर में रोमवाली हो गई हूँ, अतः मुझे अब योग्य समझो।

यहाँ गान्धारी भूमि, अर्थात् जवासा-भूमि में चरनेवाली भेड़ के-से बालों का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट हो गया कि अच्छी भेड़ोंवाले देश को गान्धारी या गान्धार कहते हैं और वर्त्तमान गान्धार इसी कारण से प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद ८।४।२ में **'यद्वा रुमे रुशमे'**, अर्थात् रूम और रूश के नाम भी आये हैं। जिस प्रकार अमुक-अमुक उत्कृष्ट कारणों से अमुक-अमुक भूमिखण्ड को व्रज और अर्व आदि कह सकते हैं, उसी प्रकार अमुक उत्कृष्ट गुणों के कारण कुछ देशों के नाम रूम और रूश भी हो सकते हैं। वर्त्तमान प्रसिद्ध रोम और रूस देशों के भी नाम वैसे ही उत्कृष्ट कारणों से रक्खे गये होंगे, परन्तु अब उनका अर्थ ज्ञात नहीं है। सम्भव है रूम से पशमीना और रूश से भी कोई ऐसी ही वस्तु प्राप्त होती हो।

अथर्ववेद काण्ड १५।२ में मागध शब्द भी इस प्रकार आता है—

श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानम्॥५॥ ऊषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानम्॥१३॥ इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानम्॥१९॥ विद्युत् पुंश्चली स्तयित्नुर्मागधो विज्ञानम्॥२५॥

यहाँ पुंश्चली और मागध विज्ञान बतलाकर उषा और विद्युत् के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। आकाशीय पदार्थों के व्यभिचार से ही इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है।

मनुस्मृति में हम वर्णसङ्कर प्रकरण में देखते हैं कि अमुक-अमुक वर्ण के संकर-संयोग से मागध पैदा होते हैं। पुराने ज़माने में जहाँ दुराचारिणी स्त्रियाँ रहती होंगी उसी स्थान का नाम

मागध रखते होंगे। मगध देश जिसको 'मग' कहते हैं और जो काशी के उस पार है, उसमें मरने से नरक प्राप्त होना लिखा है। यह इसीलिए कि मध्यम काल में वह मगध था और वहाँ दुश्चरित्रा स्त्रियाँ रहा करती होंगी। इसी तरह ऋ० ३।५३।१४ में लिखा है कि **'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः'**, अर्थात् कीकट में गौवें क्या करेंगी? वेद में मना किया गया है कि कीकट में गौवों को नहीं रहना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि जहाँ गौवों को दु:ख हो, जहाँ उनको दु:ख देनेवाले प्राणी हों, वहाँ गौवें न रहें। गया प्रान्त में किसी समय ऐसे प्राणी थे जो गौवों को सताते थे, इसीलिए इस स्थान को कीकट कहा गया है। कीकट देश मगध और अङ्ग के पास ही है। अङ्ग देश ज्वरप्रधान होने से और मगध व्यभिचारप्रधान होने से ज्ञात होता है कि वहाँ अनार्यों का प्राधान्य था। वे गोवध करते होंगे, इसीलिए आर्यलोग उस जगह को कीकट कहने लगे और मानने लगे कि मगध, कीकट, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग आदि देशों में वास करने से मनुष्य पतित हो जाता है। कहीं का श्लोक है कि—

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च। तीर्थयात्रा विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति॥

अर्थात् बिना तीर्थयात्रा के यदि कोई अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र और मगध देश को जाएगा तो फिर से संस्कार करने योग्य समझा जाएगा।

तीर्थों के लिए लिखा है कि—

कीकटेषु गया पुण्या पुण्या नदी पुनपुना। च्यवनस्याश्रमं पुण्यं पुण्यं राजगृहं वनम्॥

अर्थात् कीट में गया, पुनपुन नदी, च्यवनाश्रम और राजगृह पवित्र हैं, शेष पापस्थान हैं। वेद में अङ्ग, मगध, कीकट आदि नाम उन स्थानों के लिए आये हैं जहाँ बीमारी हो, लोग दुराचारी और गोहत्यारे हों। उपर्युक्त स्थानों में यही सब लक्षण देखकर सर्वश्रेष्ठ आर्यों ने उनके नाम रक्खे थे और वहाँ जाने से भय करते थे।

वेद में वाह्लीक शब्द भी आता है। भावप्रकाश में लिखा है कि **'सहस्त्रवेधि जतुकं वाह्लीकं हिंगु रामठम्'**[१] अर्थात् वाह्लीक हींग को कहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि हींग, केसर आदि पदार्थ जहाँ होते हो, उसे वाह्लीक कहते हैं। आज भी बलख़—वाह्लीक से हींग और केसर आती है। पुराने ज़माने में उक्त पदार्थों के वहाँ उत्पन्न होने से ही वे नाम पड़े होंगे।

यहाँ तक हमने वेद में आये हुए राजाओं, ऋषियों, नदियों, नगरों और देशों के नामों को विस्तार से देखा और सबको अलौकिक वर्णनों से ही युक्त पाया। कोई ऐसा नाम न मिला, जिसके आसपास के शब्द चमत्कृत वर्णनवाले न हों। कहीं इन्द्र विद्यमान है, कहीं अश्विनौ बैठे हैं, कहीं सूर्य है, कहीं किरणें हैं और कहीं विद्युत् उपस्थित है, इसी प्रकार कहीं वनस्पति है अथवा शरीर की कोई इन्द्रिय है। ऐसी दशा में उन शब्दों को ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ जोड़ना हमें तो ठीक नहीं जँचता। हम उन विद्वानों की हिम्मत की प्रशंसा करते हैं जो हवा में पुल बाँधते हैं।

जिस प्रकार इन थोड़े-से शब्दों का नमूना दिखलाया गया, उसी प्रकार सभी ऐतिहासिक शब्दों पर प्रकाश डाला जा सकता है, किन्तु हम वेदभाष्य करने नहीं बैठे। हमें तो केवल थोड़ा-सा नमूना दिखलाकर पाठकों से यह निवेदन करना है कि वे थोड़ी देर के लिए अपने मस्तिष्क में जमें हुए विचार को निकाल दें कि वेदों में ऐतिहासिक सामग्री है और प्रत्येक ऐतिहासिक नाम

१. भाव० हरीत्यक० १००

के आसपासवाले शब्दों पर साधारण दृष्टि डालें तथा उन ऐतिहासिक शब्दों को मन्त्रों के अन्य शब्दों के साथ मिलाएँ तो तुरन्त ज्ञात हो जाएगा कि वेदो में न तो ऐतिहासिक मनुष्यों का वर्णन है और न उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों की चर्चा है।

ऋ० ३।१६।२ में **'इमं नरो मरुतः'** और ३।७।७ में **'अध्वर्युभिः पञ्चभिः सप्त विप्राः'** कहा गया है। यहाँ मरुत को नर—मनुष्य और पाँच अध्वर्यु, अर्थात् पाँच ज्ञान इन्द्रियों को सात विप्र कहा गया है। आँख, कान, नाक, मुख और चर्म ये पाँच अध्वर्यु हैं और इनमें दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख, ये सात छिद्र विप्र हैं। जब मनुष्यसम्बन्धी शब्दों से भी अन्य ही पदार्थों का ग्रहण किया गया है तब भला आकाशीय पदार्थों से इतिहास के लिए कहाँ ठिकाना है ?

वेदों में वेदों का वर्णन

चारों वेदों में ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद का वर्णन आता है, तो क्या इन वेदों के पहले और कोई चार वेद थे ? जिस ऋग्वेद का वर्णन आता है, क्या वह वर्णित ऋक् कोई अन्य था। यदि कल्पना करें कि हाँ, कोई अन्य ऋग्वेद था तो इस प्रचलित ऋग्वेद का नाम कुछ और होना चाहिए था, परन्तु वैसा नहीं है। यही ऋग्वेद अपने से पूर्व ऋग्वेद का वर्णन करता है। वह पूर्व ऋग्वेद और कुछ नहीं है, वह यही वर्त्तमान ऋग्वेद ही है। इस तरह से भूत और वर्त्तमान दोनों काल में एक ही वेद अव्याहत गति से चले आ रहे हैं। जिस प्रकार वर्त्तमान ऋग्वेद में ऋग्वेद ही का वर्णन आ जाने से यह वर्त्तमान ऋग्वेद उस वर्णित ऋग्वेद से नवीन सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार अब तक कहे हुए समस्त ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम आ जाने से वेद उनके पश्चात् के बने हुए सिद्ध नहीं होते।

वेदों की यह विचित्र शैली है, जो बड़े मार्मिक ढंग से भूत, भविष्य और वर्त्तमान का वर्णन एक ही रीति से करती है। इसका कारण वेदों की नित्यता है। नित्यपदार्थ, नित्य और अनित्य पदार्थों को एक समान ही अनुभव करता है, तद्वत् नित्यसिद्ध वेद भी नित्य और अनित्य पदार्थों का वर्णन एक ही समान करते हैं।

वेदों में अन्य ऐतिहासिक वर्णन

वेदों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनमें इन्द्र और वृत्र के युद्ध, विवाह के नियम, यज्ञ के विधान, वर्णाश्रम, सदाचार आदि की शिक्षा का वर्णन है। ये सब मनुष्य-समाज के व्यवहार हैं। इन व्यवहारों से ज्ञात होता है कि वेद तब लिखे गये जब इस प्रकार के व्यवहार आर्यों में प्रचलित होकर बद्धमूल हो चुके थे। ऐसी दशा में सम्भव नहीं है कि वेदों में ऐतिहासिक वर्णन न हो। व्यक्ति-विशेष का वर्णन भले न हो, पर सामूहिक रीति से समाज के व्यवहारों का वर्णन तो है। इस शङ्का के समाधान में निवेदन है कि हम कब इन्कार करते हैं कि वेदों में सामाजिक व्यवहारों का वर्णन नहीं है। सामाजिक व्यवहारों के वर्णन के लिए ही तो वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। सामाजिक व्यवहारों का वर्णन यदि उनमें न हो—यदि वेदों में समाज को क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए न बतलाया गया हो तो फिर संसार में उनका उपयोग ही क्या है ? किन्तु इस व्यावहारिक वर्णन से यह नहीं निकल सकता कि वेद व्यवहार के बाद बने, अर्थात् जब विवाह हो चुके थे तब विवाह का ज्ञान हुआ और जब युद्ध हो चुके थे तब युद्ध की शिक्षा आरम्भ हुई। प्रश्न तो यह है कि जब शादी का प्रचार ही नहीं था तब पहली शादी हुई कैसे—जब

युद्ध-जैसी वस्तु का ज्ञान ही नहीं था तब युद्ध हुआ कैसे ?

कोई भी सामाजिक व्यवहार ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जब से यह व्यवहार हुआ तभी से इसका अस्तित्व है, इसके पहले से नहीं। इस विषय को तनिक विस्तार से समझना चाहिए।

कल्पना करो कि संसार में सबसे प्रथम आज एक विवाह हुआ, किन्तु प्रश्न यह है कि उसी समय विवाह शब्द कहाँ से आ गया, जो इस पहलेपहल आज ही आरम्भ होनेवाले विवाह के लिए प्रकट किया गया। वास्तविक बात तो यह है कि विवाह तब से है जब से विवाह शब्द का अस्तित्व है—युद्ध तब से है जब से युद्ध शब्द का अस्तित्व है, इत्यादि।

इसके पूर्व हम वेद में आये हुए ऐसे अनेक शब्दों का विवेचन कर आये हैं, जिन शब्दों का व्यवहार लोक में राजाओं, ऋषियों और नदियों आदि के नामों के लिए होता है, परन्तु सोचना चाहिए कि उस राजा, ऋषि, नदी, ग्राम तथा देश के पूर्व वे-वे शब्द विद्यमान थे या नहीं ? राजा पुरूरवा और राजा इक्ष्वाकु के नाम रखते समय ये विद्यमान थे। गङ्गा और यमुना के नाम रखते समय ये शब्द विद्यमान थे। विश्वामित्र, जमदग्नि के नाम रखते समय ये शब्द विद्यमान थे। काम्पील, अयोध्या आदि नाम रखते समय ये नाम विद्यमान थे और व्रज, अर्व तथा गान्धार आदि नाम रखने के समय भी ये नाम विद्यमान थे। यदि विद्यमान न होते तो ये नाम न रक्खे जाते, इसलिए हमें अब यह स्वीकार करना चाहिए कि जिस समय नाम रक्खे गये उस समय के पूर्व ये शब्द उन राजाओं, ऋषिओं, नदियों, ग्रामों और देशों को सूचित करनेवाले न थे। न उस समय पुरूरवा शब्द से चन्द्रवंशी पुरूरवा का बोध होता था और न गङ्गा शब्द से इस हरद्वारवाली गङ्गा का ही बोध होता था। उस समय इन शब्दों का कुछ दूसरा ही अर्थ था। इन शब्दों का उस समय जो अर्थ था वही इनका वास्तविक अर्थ है। उसी को धात्वर्थ कहते हैं। पीछे से जहाँ-जहाँ उस-उस अर्थ के-से लक्षण दिखलाई पड़े उन-उन नवीन पदार्थों के भी वही नाम रख दिये गये।

अब भी तो यही होता है। जब हम अपने लड़के या अपने अन्य किसी पदार्थ का नाम रखना चाहते हैं तब हमारे पास पहले से ही हज़ारों नाम विद्यमान होते हैं और उन्हीं में से चुनकर हम कोई नाम रख देते हैं।

इस प्रकार किसी शब्द को देखकर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह शब्द अमुक व्यवहार के बाद बना, प्रत्युत यह समझना चाहिए कि प्रत्येक शब्द व्यवहार से पहले का है। वह शब्द तब का है जब उस व्यवहार का संसार में पहलेपहल जन्म हुआ था, अर्थात् नाम तब का है जब का पदार्थ है, क्योंकि संज्ञा और पदार्थ की उत्पत्ति एक ही साथ होती है।

जिस समय मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय मनुष्य को छोड़कर शेष समस्त संसार वर्त्तमान था। पशु, पक्षी, तृण, पल्लव, नदी, पहाड़, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ और आकाश तथा लाखों तारे विद्यमान थे। इनके व्यवहार भी विद्यमान थे। वृष्टि का समुद्र और समुद्र की वृष्टि का व्यवहार उस समय भी था। उस समय में भी पृथिवी सूर्य की प्रदक्षिणा करती थी। रात को सूर्य छिप जाता था और दिन को निकल आता था। सरदी में धूप कोमल और गरमी में धूप तीक्ष्ण होती थी। सूर्य और चन्द्र की किरणें उस समय भी पानी खींचती थीं और वनस्पति को आप्यायित करती थीं। कहने का तात्पर्य यह कि लेना, देना, घूमना, बरसना, सूखना और तेज़, नरम आदि सभी कर्म और गुण विद्यमान थे, अर्थात् द्रव्य के साथ गुण और कर्मों का नित्य सम्बन्ध होने से जहाँ-जहाँ उस प्रकार का लक्षण दृष्टिगोचर आ जाता था, वहाँ-वहाँ उन लक्षणों

से वह-वह संज्ञा आप-ही-आप उत्पन्न हो जाती थी।

सृष्टि के यही लाखों पदार्थ अपने-अपने गुणों और क्रियाओं से अपनी संज्ञा, अर्थात् अपना नाम आप-ही-आप चुनकर पुकारने लगते हैं और आज हम इन्हीं सब पदार्थों के व्यवहारों से उत्पन्न हुए लाखों शब्द बोलते हैं।

यह मनुष्य बड़ा गम्भीर है। इस वाक्य में 'बड़ा' और 'गम्भीर' ये दोनों शब्द कहाँ से आये? 'गम्भीर' नदी, कुवाँ और समुद्र की गहराई से आया और 'बड़ा' पृथिवी अथवा पहाड़ या कम-से-कम ताड़ के वृक्ष से आया। अच्छा! 'प्रफुल्लित' शब्द कहाँ से आया? क्या यह शब्द निस्सन्देह फूलों पर से ही नहीं लिया गया? यदि हाँ, तो 'मन प्रफुल्लित' वाक्य, क्या सर्वथा मनुष्य-समाज के बाहर का नहीं है? अवश्य है।

उसका स्वभाव बड़ा 'उग्र' है। वह लड़का बड़ा 'तेजस्वी' है। क्या यह 'उग्र' धूप से और 'तेज' सूर्य से नहीं लिया गया? उसकी बात मन में चुभ गई। यह 'चुभना' क्या काँटों पर से नहीं लिया गया? मेरे होश 'उड़ गये'। यह 'उड़ना' तो चिड़ियों पर से ही लिया गया है। कर्म का क्या फल है। यह 'फल' तो निश्चय ही वृक्ष से लिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधे से अधिक शब्द हम अब भी बाहरी दुनिया के ही वर्त्तते हैं, जिनका मनुष्य-समाज से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार हमें सोचना चाहिए कि हमारी भाषा के अन्दर हज़ारों शब्द हमारे पास बाहरी संसार से ही आये हैं। 'उज्वल' शब्द निस्सन्देह धूप, दूध अथवा चाँदनी से आया है। रक्त को तो अब तक लाल रंग का ही वाचक बोलते हैं। जब यह हाल है तब कैसे कह सकते हैं कि वेद में जो व्यावहारिक शब्द आते हैं वे हमारे सामाजिक व्यवहार के बाद के हैं?

हम पहले लिख आये हैं कि वेद का आकाश भी एक पृथक् संसार है। वहाँ भी राजा, प्रजा, आर्य, दस्यु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ग्राम, नगर, गली, लेना, देना, युद्ध, विग्रह, गाय, घोड़ा, बैल, भैंस, बकरी, कुत्ता, नाव, शकट, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि सभी कुछ हैं। वहाँ स्त्री-पुरुष भी हैं। उनका परिणय भी है। इस प्रकार हम जो कुछ सामाजिक व्यवहार यहाँ देखते हैं, वह सबका सब (अपने निराले ढंग का) ऊपर भी विद्यमान है।

इसी प्रकार का एक दूसरा संसार हमारा शरीर है। यहाँ भी उपर्युक्त सब वस्तुएँ हैं और वेदों में कही गई हैं।

तीसरा संसार पृथिवीस्थ पदार्थों का है। इन तीन प्रकार के संसारों का वर्णन वेदों में है। पहला संसार सबसे बड़ा, दूसरा सबसे छोटा और तीसरा मध्य में मध्यम श्रेणी का है। पहले के अनुसार दूसरे को बनाना और तीसरे की सहायता लेना यही वैदिक विज्ञान है।

पहले संसार ने सरदी और गरमी पैदा की। दूसरे संसार को कष्ट हुआ, अतः तीसरे संसार से रजाई और छाता लेकर दूसरे को पहले के अनुकूल बना दिया गया। इसी का नाम कर्म है। वेदों मे इसी को यज्ञ कहा है। इसी यज्ञ के अन्य भाग ओषधिसेवन, वस्त्रधारण आदि भी है।

उक्त समग्र वर्णन का निष्कर्ष यह है कि वेदों में बहुत बड़ा भाग पहले संसार का है। उसमें आये हुए शब्द मनुष्य-समाज के व्यवहार के पहले के हैं। दूसरे संसार के शब्द भी मनुष्य से पहले के हैं और तीसरे संसार के शब्द तो उक्त दोनों से लेकर ज्यों-के-त्यों रख दिये गये हैं। उदाहरणार्थ किरणें और इन्द्रियाँ गौ हैं। ये ताप और ज्ञान देती हैं, चलनेवाली भी हैं। उनका मिलान गौ से मिलता है, अतः गौ भी उन्हीं शब्दों से कही जाती है। अश्व, तेज़ चालवाली किरण

है, अतः तेज़ चाल चलनेवाला घोड़ा भी अश्व कहलाता है। सूर्य संसार का शासन करता है, अतः वह वेदों में सम्राट् कहा गया है। यहाँ भी पृथिवीभर का राजा सम्राट् कहलाता है। तात्पर्य यह कि वेदशब्दों से ही सब संज्ञा निकली हैं। वे समाज के बाद नहीं बनी, अपितु समाज के साथ ही उत्पन्न हुई हैं, अतएव इन शब्दों से इतिहास निकालना भूल है। वेदों में इतिहास नहीं है।

अति प्राचीन भाष्यकार भी वेदों में इतिहास मानते हैं

इस समय वेदों को छोड़कर शेष समस्त संस्कृत साहित्य में ब्राह्मणग्रन्थ और निरुक्त ही प्राचीन हैं। इन दोनों के देखने से विदित होता है कि अति प्राचीन काल में भी वेदों में इतिहास के मानने और न माननेवाले थे। गोपथब्राह्मण २।६।१२ में, अथर्व २०।१२७।७ के **'राज्ञो विश्वजनीनस्य'** मन्त्र पर लिखा है कि **'अथो खल्वाहुः, गाथा एवैताः कारव्या राज्ञः परिक्षित इति'**, अर्थात् कोई कहते हैं कि ये कारु शब्दवाली ऋचाएँ गाथाएँ हैं, क्योंकि इनमें परिक्षित राजा का वर्णन है। इसी प्रकार निरुक्त में भी अनेक स्थानों पर लिखा है कि 'इत्यैतिहासिकाः', अर्थात् यह इतिहासकारों का मत है। इससे ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में भी वेदों में इतिहास के माननेवाले थे, किन्तु ऐतिहासिक मत का खण्डन करके सत्य अर्थ के प्रकाशित करनेवालों की भी कमी न थी। जैसाकि गोपथ की इसी कण्डिका के समग्र पाठ से विदित होता है[1]।

प्रोफ़ेसर मैकडानल ने लिखा है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से बहुत दिन बाद के हैं। ब्राह्मणों के निर्माणकाल में तो ऋषि-प्रदर्शित बहुत-सा अर्थ विस्मरण हो चुका था और ऋषियों के इतिहास का ज्ञान भी लुप्त हो रहा था'। लोकमान्य तिलक भी कहते हैं कि 'तैत्तिरीयसंहिता और ब्राह्मणों के निर्माणकाल में संहिताएँ पुरातन हो चुकी थीं और उनका अर्थ समझना भी कठिन हो गया था'। ठीक यही हाल हम निरुक्तकाल में भी देखते हैं। निरुक्तकाल के विषय में मिश्रबन्धु लिखते हैं कि 'यास्क ने अपने पूर्व के १७ वैदिक टीकाकारों के नाम लिखे हैं। उस काल में भी वैदिक टाकाकारों में इतना गड़बड़ था कि कि 'कौत्स' ने जो इन १७ टीकाकारों में से एक थे, लिखा है कि वैदिक अर्थसम्बन्धी विज्ञान वृथा है, क्योंकि वैदिक सूक्त एवं ऋचाएँ अर्थहीन, गूढ़ और एक दूसरे से प्रतिकूल हैं। यास्क ने इसका उत्तर यही दिया है कि 'यदि अन्धा सूर्य को न देख सके तो भुवनभास्कर का कोई दोष नहीं है।'　—भारत० इति० पृष्ठ १७२।

ब्राह्मणकाल और निरुक्तकाल दोनों में सभी लोग वेदों के ज्ञाता नहीं थे। उस समय कोई-कोई ही वेदों के सत्यार्थ तक पहुँचते थे। सूत्रकाल में तो बहुत ही बुरी दशा थी। 'दधिक्राव्णो'

---

१. अथ पारिक्षितीः संशति, 'राज्ञो विश्वजनीनस्येति' (अथर्व० २०।१२७।७-९) सवंत्सरो वै परिक्षित्, संवत्सरो हीदं सर्वे परिक्षियतीति। अथो खल्वाहुरग्निर्वै परिक्षित्, अग्निर्हीदं सर्वं परिक्षियतीति। अथो खल्वाहुः, गाथा एवैताः कारव्या राज्ञः परिक्षित् इति। स नस्तद्यथा कुर्यात्, यथा कुर्यात्, गाथा एवैतास्य शस्ता भवन्ति। यद्यु वै गाथा अग्रेरेव गाथाः संवत्सरस्य वेति ब्रूयात् यद्यु वै मन्त्रोऽग्नेरेव मन्त्रः संवत्सरस्य वेति ब्रूयात्, ताः प्रग्राहमित्येव।　—गोपथ० २।६।१२

अर्थात् पारिक्षितीः शब्दवाली ऋचाओं के विषय में कोई कहते हैं कि संवत्सर ही परीक्षित है, क्योंकि संवत्सर ही इस सबमें सब ओर से वास करता है। फिर कोई कहते हैं कि अग्नि ही परीक्षित है, क्योंकि अग्नि ही इस सबमें सब ओर से वास करता है। फिर कोई कहता है कि यह कारु शब्दवाली ऋचाएँ मनुष्य की गाथा है, परन्तु ऐसा नहीं है। वे मनुष्य की गाथा नहीं है। यदि वे गाथाएँ हैं तो अग्नि वा संवत्सर की ही गाथाएँ हैं और जो मन्त्र हैं वे अग्नि वा संवत्सर के ही मन्त्र हैं।

यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि यह गाथा मनुष्य की नहीं, अग्नि या संवत्सर की है।

का अर्थ घोड़ा होता है, परन्तु जिस प्रकार 'शन्नोदेवी०' मन्त्र को शनिश्चर के लिए लगा दिया गया है, उसी प्रकार सूत्रों में 'दधिक्राव्णो०' मन्त्र को दही खाने में लगा दिया गया है।

वेद कहीं चले नहीं गये। वे आज भी सबके सामने हैं। आज भी तो लोग वेदों से इतिहास निकालते हैं और आज भी उनको उसी प्रकार उत्तर दिया जाता है जिस प्रकार पूर्व में दिया जाता था। जितना पुरातन है उतना सभी सनातन नहीं है। वैदिक काल में भी अवैदिक थे, उस समय भी मूर्ख थे और उस समय भी दुष्टों की कमी न थी, अतएव उनके किये हुए अर्थ, जिनको मूलवेद ही अर्थहीन और गूढ़ प्रतीत होते थे, विश्वास योग्य नहीं हो सकते। उनके विषय में यास्काचार्य ने सत्य ही कहा है कि यदि उल्लू को दिन में न सूझे तो इसमें सूर्य का क्या अपराध है? इसी वर्ष लाहौर में ओरिएण्टलिस्टों की सभा के प्रधान ने कहा था कि वेदों के अनेक गूढ़ शब्दों का अर्थ करना नितान्त कठिन है, अतएव अर्थ करने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। वेदों की गूढ़ता स्वीकार कर लेंने पर स्वयं यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि जब पठन-पाठन बन्द हो जाता है तब पाठ्य विषय गूढ़ हो जाता है। ऐसे समय का अभिप्राय कुछ मूल्य नहीं रखता। इसका उतना ही मूल्य है, जितना उस पुरुष की बात का हो सकता है जो कहता है कि रेखागणित के साध्य बहुत गूढ़ हैं, इसलिए इन लकीरों का अर्थ हारमोनियम की डबल रीड है।

हमने यहाँ तक वेदों में इतिहास प्रकरण की छानबीन की और अनेक प्रकार से देखा कि वेदों में इतिहास की कोई सामग्री नहीं है, अत: इतिहास के आधार पर निकाला हुआ वेदों का समय अशुद्ध है, भ्रान्त है और सर्वथा अविश्वसनीय है।

ज्योतिष् द्वारा स्थिर किया हुआ वेदों का समय

अब तक दो आक्षेपों का उत्तर देते हुए दिखलाया गया है कि मिस्र की सभ्यता वेदों से पुरानी नहीं है और न वेदों में कोई ऐतिहासिक वर्णन ही है। उक्त दोनों आक्षेपों का, जिनसे वेदों की आयु निश्चित की जाती है, समाधान हो गया। अब तीसरे आक्षेप का, जिसके द्वारा वेदों का समय निकालने का प्रयत्न किया जाता है, समाधान करना है। इस तीसरे आरोप में ज्योतिष् के द्वारा वेदों का समय निकाला गया है। इस विषय में कुछ यूरोपनिवासियों ने भी प्रयत्न किया है, परन्तु लोकमान्य तिलक महाराज ने जैसा परिश्रम किया है, वैसा किसी ने नहीं किया। आपने वेदों में आये हुए कुछ प्रकरणों से सिद्ध करना चाहा है कि वेद उस समय बने जब वसन्त-सम्पात मृगशिरा में था। यहाँ हम संक्षेप से उनकी विवेकमाला लिखकर उसमें आये हुए वैदिक प्रमाणों पर विचार करेंगे। तिलक महोदय के कहने का सारांश इस प्रकार है—

वर्ष चार प्रकार के हैं—चान्द्रवर्ष, सौरवर्ष, नाक्षत्रवर्ष और सायन या सम्पातवर्ष। बारह अमावस्याओं या पूर्णिमाओं का चान्द्रवर्ष होता है। सूर्य उदय से दूसरे दिन सूर्य उदय तक को एक सौर दिन कहते हैं और ऐसे ३६० दिनों का सौरवर्ष होता है, किसी एक नक्षत्र से सूर्य चलकर जब फिर उसी नक्षत्र पर आता है तो इस काल को नाक्षत्रवर्ष कहते हैं और वसन्त ऋतु से वसन्त ऋतु तक के वर्ष को सम्पातवर्ष या सायनवर्ष कहते हैं। यह सायनवर्ष नाक्षत्रवर्ष से २०.४ मिनट छोटा है, अतएव सायनवर्ष प्रत्येक दो सहस्र वर्ष में एक मास पीछे खिसक जाता है। पृथिवी के एक स्थान से चलकर उसी स्थान में आने का जो समय है वही सच्चा वर्ष है। उसी का नाम सायन वर्ष है। सायन वर्ष को आरम्भ करनेवाले, साल में चार पड़ाव हैं—रात का बिलकुल बढ़ जाना—दिन का बिलकुल बढ़ जाना और दो बार रात-दिन का बराबर होना। इन

चारों में से किस स्थान से वर्ष आरम्भ करना चाहिए ? इस प्रश्न का पूर्वजों ने इस प्रकार समाधान किया था कि जहाँ से प्रकृति देवी प्रफुल्लित हो उठे और जहाँ से वृक्षावली में नूतनता आरम्भ हो वहीं से वर्षारम्भ भी किया जाए। यह सब घटना वसन्त से आरम्भ होती है, इसीलिए कहा गया है कि **'मुखं वा एतत् ऋतूनां यद्वसन्तः',**[१] अर्थात् वसन्त ही सब ऋतुओं का मुख है। जब सूर्य वसन्तसम्पात में आये तभी से वर्ष आरम्भ हो। इसके आगे सारी पुस्तक में उन्होंने तीन प्रकार के वसन्तसम्पात दिखलाने की चेष्टा की है। अन्त में आप कहते हैं कि—

'यहाँ तक हमने तीन प्रकार के पञ्चाङ्गों का विचार किया। इसमें सबसे प्रथम पञ्चाङ्ग के समय को हम अदितिकाल अथवा मृगशीर्ष-पूर्वकाल कहेंगे। इसकी मर्यादा अनुमान से ईस्वी सन् पूर्व ६००० वर्ष से ४००० वर्ष तक जाती है। इस समय तक वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी। दूसरे मृगशीर्षकाल की मर्यादा स्थूल परिमाण से ईस्वी सन् पूर्व ४००० वर्ष से २५०० वर्षपर्यन्त है। यह काल वसन्तसम्पात के आर्द्रा नक्षत्र से कृत्तिका नक्षत्र में आने तक का है और बड़े महत्त्व का है, क्योंकि इसी काल में ऋग्वेद के बहुत-से सूक्त निर्मित हुए थे और कितनी ही कथाएँ भी रची जा चुकी थीं। इसी से ऋग्वेद में कृत्तिकाकाल के विषय का कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता। यह काल विशेषतः सूक्तरचनाकाल था। तृतीय कृत्तिकाकाल है। इसकी मर्यादा ईस्वी सन् पूर्व २५०० से १४०० वर्ष तक है, अर्थात् जबसे वसन्तसम्पात कृत्तिका में आया तब से लेकर वेदाङ्ग ज्योतिष्-पर्यन्त इसकी मर्यादा है। तैत्तिरीयसंहिता और कितने ही ब्राह्मणों की रचना का यही काल है। इस समय ऋग्वेदसंहिता पुरानी हो चुकी थी, अतः उसका अर्थ समझने में भी सुविधा नहीं थी[२]।'

यह तिलक महोदयकृत ओरायन्, अर्थात् मृगशीर्ष नामी ग्रन्थ का सारांश है। इस विवेचन से आप यह कहना चाहते हैं कि नाक्षत्रवर्ष से सायनवर्ष २०.४ मिनट छोटा है। ये मिनट बढ़कर दो हज़ार वर्ष में एक मास के बराबर हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि दो हज़ार वर्ष में वसन्तसम्पात नाक्षत्रवर्ष से एक महीना पीछे हो जाता है[३]।

इसी कारण से कृत्तिकाकाल, मृगशीर्षकाल और पुनर्वसुकाल से सम्बन्ध रखनेवाले तीन पञ्चाङ्गों का वर्णन किया गया है। जब वसन्तसम्पात कृत्तिका में होता था तब दूसरा महीना था, परन्तु जब वसन्तसम्पात मृगशिरा में आया तो दूसरा महीना हो गया। कल्पना करो कि अमुक

---

१. तै० १।१।२।६-७

२. The oldest period in the Aryan civilisation may, therefore, be called the Aditi or the pre-Orion period and we may roughly assign 6,000–4,000 B.C. as its limits. It was a period when the finished hymns do not seem to have been known and half-prose and half-poetical Nivids which are sacrifical.....were probably in use.

We next come to the Orion period which, roughly speaking, extended from 4,000 B.C. to 2,500.......This is most important period in the history of the Aryan civilisation. A good many Suktas in the Rigveda (e.g. that Vrishakapi, which contain a record of the beginning of the year where the legend was first conceived) were sung at the time.

The third of the Krittika period commences with the vernal equinox in the asterism of the Krittika's and extend up to the period recorded in the Vedang Jyotish, that is, from 2,500 B.C. to 1,400 B.C. It was the period of the Taittariya Sanhita and several of the Brahmans.

—*Orion*, pp. 206-207.

३. The difference between the sidereal and the tropical year is 20.4 minutes which causes the season to fall back nearly one lunar month in about every two thousand years, if the sideral solar year be taken as the standard of measurement. —*Orion*, p.19.

समय वसन्तसम्पात यदि माघ में था तो दो हज़ार वर्ष के बाद वह पौष में आएगा और फिर दो हज़ार वर्ष के बाद मार्गशीर्ष में। इसका कारण ऊपर बतला आये हैं कि नाक्षत्रवर्ष से सायनवर्ष कुछ मिनट छोटा है। दो हज़ार वर्ष में ये मिनट बढ़कर एक महीने के बराबर हो जाते हैं और विषुववृत्त के चलने तथा क्रान्तिवृत्त के स्थिर होने के कारण वसन्तसम्पात उस महिने से खिसक कर उसके पहले महीने में आ जाता है।

तिलक महोदय उक्त कारणों को ध्यान में रखकर वेद और ब्राह्मणों से ऐसे प्रमाण एकत्र करते हैं जिनसे जाना जाए कि पूर्वकाल में हमारा वसन्तसम्पात तीन महीनों में रह चुका है। इनमें से पहला कृत्तिकाकाल है, जिसके लिए आप कहते हैं कि इस समय का वर्णन वेदों में नहीं है। इसलिए इस विषय पर हमें भी कुछ नहीं कहना है।

दूसरा मृगशीर्षकाल है जिसके प्रमाणित करने के लिए ब्राह्मणों से कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के होने से इन प्रमाणों के विषय में भी हमें कुछ नहीं कहना है। हाँ, परोक्षरीति से मृगशीर्षकाल को सूचित करानेवाले कुछ प्रमाण ऋग्वेद से दिये गये हैं जिनपर विचार करना हमारे लिए आवश्यक है। यद्यपि कई स्थानों पर आपने स्पष्ट रीति से कह दिया है कि 'ऋग्वेद में वसन्तसम्पात को मृगशीर्ष में बतानेवाले स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं'[१], तथापि परोक्षरीति से दिये हुए सन्देह उत्पन्न करनेवाले प्रमाणों को भी जाँच लेना चाहिए। हमने बड़े ध्यान और परिश्रम से उन प्रमाणों को छाँट लिया है जो वेदों से दिये गये हैं।

लोकमान्य तिलक महोदय कहते हैं कि आकाश में जहाँ आकाशगङ्गा है, वहीं पर श्वान नामक दो तारे हैं। तीसरा नौका, चौथा मृगशीर्ष और पाँचवाँ नमुचि नामी तारा भी है। आप कहते है कि वह दृश्य आकाश में बहुत जल्दी दिखता है। किसी समय वर्षारम्भ पर यह समस्त तारासमूह सूर्य के उदय काल में रहता है और उस समय मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात होता था। हम कहते हैं कि भले ही यह दृश्य सूर्योदय के समय वर्षारम्भ में रहा हो और भले ही उसको मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात कहा गया हो, किन्तु हमें तो यह देखना है कि ऐसी अवस्था का वर्णन वेदों में कहाँ है? इस अवसर पर आकाशगङ्गा, नौकापुञ्ज, मृगशिर, नमुचि और श्वान तारे बतलाये गये हैं। अब देखना चाहिए कि इन पाँचों में से कौन-सा स्थान प्रायः मनुष्यों की दृष्टि में आता है। हमारी समझ में तो इनमें सबसे प्रसिद्ध वस्तु आकाशगङ्गा है, जिसको यहाँ के लोग इन्द्र के हाथी का रास्ता कहते हैं और अंग्रेज़ लोग मिल्की वे (Milky way) कहते हैं। यह विचित्र वस्तु सूक्ष्म बादल-सी प्रतीत होती है, अतः इसपर दृष्टि जाना स्वाभाविक है, किन्तु श्वान, नौका आदि नक्षत्र तो इतने दबे हुए हैं कि बड़े-बड़े ज्योतिषियों के बतलाने पर भी दृष्टि में नहीं आते। ऐसी अवस्था में उन अप्रसिद्ध तारों का वर्णन न होना चाहिए और आकाशगङ्गा का

---

१. There appears to be no express passage in the Vedic works, which state that Mrigashiras, like the Krittika, was ever the month of the Nakashatras. —*Orion*, p. 73.

But I have not been able to find out a passage where Agrayana is used in the Vedic works to expressly denote the constellation of Mrigashiras. —*Ibid.*, p. 136.

So far as I am aware there is no express authority for such a hypothesis except the statement in the Bhagwat Gita where Krishna tells Arjuna that he, Krishna, is "Margashirsha of the months and vasant of seasons." —*Ibid.*, p. 79.

The tradition of piercing the head (Mrigashirsha) does not, however, occur in this from in the Rigveda. —*Ibid.*, p. 99.

वर्णन अवश्य होना चाहिए, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। आप कहते हैं कि 'आकाशगङ्गा का उस समय का कोई नाम देखने में नहीं आता। पारसी, ग्रीक और भारतीय इन तीनों आर्यों की भाषाओं में आकाशगङ्गा का कोई नाम नहीं है[१]।' ऐसी स्पष्ट प्रत्यक्ष वस्तु का ही जब नाम नहीं है तो क्या अन्य अप्रसिद्ध तारों के साथ वसन्तसम्पात का वर्णन आता है ? नहीं, वह भी नहीं आता।

नौकातारा का वर्णन है, परन्तु ऐसा किसी स्थान पर नहीं कहा गया कि नौकातारे पर वसन्तऋतु का आरम्भ होता है या उस स्थान से सूर्योदय होता है।

अब रहे नमुचि, मृगशीर्ष और श्वान। नमुचि कोई तारा नहीं है, प्रत्युत नमुचि नाम बादल का है तथा इन्द्र नाम सूर्य और विद्युत् का है। यह सभी जानते हैं कि सूर्य या विद्युत् बादलों को छिन्न-भिन्न करके पानी बरसाता है। अमरकोश के जिस श्लोक में इन्द्र को नमुचिसूदन कहा गया है, वह श्लोक यह है—

सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री वासवो वृत्रहा वृषा। जम्भभेदी हरिहयः स्वराण्नमुचिसूदनः ॥[२]

इससे सिद्ध है कि नमुचि वे बादल हैं जो प्रहार के बिना नहीं बरसते। यह सब जानते हैं कि शम्बर बादलों को कहते हैं। पञ्चतन्त्र में आया है कि **'शम्बरस्य च या माया सा माया नमुचेरपि'**[३] यहाँ भी नमुचि माया करनेवाले बादल ही सिद्ध होते हैं।

मृगशीर्ष शब्द के साथ ऋग्वेद में कहीं सूर्य का नाम नहीं आता, प्रत्युत मृगशब्द बादलों के लिए ही आता है। आगे हम 'वृषाकपि' सूक्त की समालोचना में दिखलाएँगे कि मृग बादल अर्थ में किस प्रकार आता है।

अब केवल 'श्वान' शब्द रह जाता है। हमने ज्योतिषियों से अच्छी प्रकार जाना है कि आकाश में श्वान नामी दो तारे हैं। इनको ग्रीक भाषा में क्वान और प्रक्वान कहा गया है[४]। अँगरेजी में ये दोनों कनिस मायनर और कनिस मेजर के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं दोनों को ऋग्वेद १०।१४।११ में **'यौ ते श्वानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी'** कहा गया है। ये श्वान सदैव द्विवचन में कहे गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वे दो हैं, परन्तु तिलक महोदय श्वान के विषय के जो चार प्रमाण देते हैं उनमें सर्वत्र एक ही वचनवाला श्वान कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि एक वचनवाले श्वान से अभिप्राय दूसरा है। यहाँ जिस स्थान को आप वसन्तसम्पात बतलाना चाहते हैं, उस स्थान के लिए एक वचन श्वान का वर्णन उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ दो श्वान हैं, और उनके लिए वेदों में सदैव द्विवचन ही आता है, जिसे आप ने भी स्वीकार किया है[५]। आपके चारों प्रमाणों का विवेचन इस प्रकार है—

---

१. The Milky way does not appear to have received a specific name in these old days and three sections of the Aryan race the Parsis, the Greeks and the Indians have no common [illegible] denote the same.

२. अमर० स्वर्ग० १।४५-४६

३. पञ्चतन्त्र, मित्रभेद: १९४

४. संस्कृत 'श' जेन्द में 'क' हुआ है, जैसे श्वसुर का कुसुर। यही कुसुर फारसी में खुसुर [illegible] ग्रीकभाषा में भी श्वान का क्वान हुआ है।

५. In the Parsi scriptures the dogs of the Chinvat Bridge are sometimes [illegible] sometimes, as in Rigveda (10.14.11) in dual.

१. आप कहते हैं कि 'ऋग्वेद में सरमा नाम की कुत्ती का वर्णन इस प्रकार है कि एक बार इन्द्र ने सरमा को गायों के ढूँढने के लिए भेजा, किन्तु बीच में पणियों ने उसे जब दूध पिला दिया तब उसने गायों के ढूँढने से इन्कार कर दिया। इन्द्र ने उसे एक लात मारी और उसने वह दूध उगल दिया। यह सरमा वही श्वान तारा है और यह उगला हुआ दूध वही आकाशगङ्गा है'।

हम ऊपर बतला आये हैं कि आकाशगङ्गा के पास दो श्वान हैं, एक नहीं, और आकाशगङ्गा के लिए तो आप कहते हैं कि कोई प्राचीन शब्द ही नहीं है, ऐसी दशा में इस एक वचनवाली सरमा का वर्णन उस अवसर का कैसे हो सकता है ? जहाँ यह बात ऋग्वेद में आई है वहाँ सरमा को इन्द्र की दूती कहा गया है, और पणियों को असुर कहा गया है। ऋग्वेद १०।१०८।४ में लिखा है कि '**हता इन्द्रेण पणयः**', अर्थात् पणियों (बादलों) को इन्द्र (सूर्य) ने मारा। आगे मन्त्र ९ में सरमा को गायों की स्वसा कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह वर्णन वर्षाऋतु का है। वेद में अन्य स्थानों में किरणों को गौ कहा गया है। सब जानते हैं कि घृताची अप्सरा सूर्य की किरण है। वही इस नीचे के मन्त्र में देवतों की गौ कही गई है—

वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनस्पृगेषा।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व॥ —अथर्व० १३।१।२७

अर्थात् बहनेवाली और जल को खींचनेवाली यह देवताओं की घृताची—गौ रुकनेवाली नहीं है। इन्द्र सोमपान करे और स्तुति करे कि 'तू वैरियों को निकाल दे'।

कहीं हम पहले लिख आये हैं कि सूर्य की किरणें तिहरी हैं, अर्थात् वे आग्नेय, जलीय तथा आकाशीय हैं। यहाँ सरमा आग्नेय किरण हैं, गौ जलीय किरण हैं, और पणि बादल हैं। इन्द्र ने आग्नेय किरणों से जलवाली किरणों को अपने पास खींचा और बादलों ने फूटकर बरस दिया। बस, पणि मर गये और सरमा ने पानी उगल दिया। इस तरह से स्पष्ट हो गया कि यह वृष्टि का अलंकार है न कि वसन्तसम्पात और श्वान तारे का। महाशय आर०सी० दत्त ने भी मैक्समूलर की राय से मिलते हुए, किरणों को गाय और पणियों को बादलरूपी अन्धकार ही माना है[१]।

२. दूसरा प्रमाण है शुनासीरौ का, जिसे तिलक महोदय श्वान तारा सिद्ध करते हैं। आप कहते हैं कि 'ऋग्वेद में पृथिवी पर स्वर्ग से दुग्ध की वृष्टि करने के लिए शुनासीरौ की प्रार्थना की गई है।' यह वर्णन ऋग्वेद ४।५७।५ में इस प्रकार है—'**शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्**'। यहाँ स्पष्ट कह दिया है कि हे शुनासीरो! मेरी प्रार्थना स्वीकार करके जो पय आपने द्युलोक में बनाया है, उससे इस भूमि को सींचिए।

अब देखना चाहिए कि शुनासीरौ, पय और दिवि का क्या अर्थ है। ऊपर कहे हुए ५७ वें सूक्त में शुनाशीरौ का वर्णन है। यह सारा सूक्त खेती की शिक्षा देता है। आकाश में भी खेत, किसान और हल आदि हैं। आकाशीय खेती का तात्पर्य वर्षा उत्पन्न करना है। यहाँ शुना और सीर, दोनों जल बनानेवाले कहे गये हैं, इसलिए निरुक्तकार शुनासीरौ का अर्थ 'वायु और सूर्य' करते हैं, क्योंकि इनसे ही वर्षा उत्पन्न होती है। आकाशीय खेती का एक मन्त्र यह है—

---

१. The rays of light are compared to cattle which have been stolen by the powers of darkness and Indra (the sky) seeks for in vain. He sends Sarma i.e., the dawn, after them, and Sarma finds out the Bilu, or fortrees, where the Panis, or the powers of darkness, have concealed the cattle.

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः॥

—अथर्व० ६।३०।१

अर्थात् देवों ने सरस्वती में इस मीठे यव को बोया। शतक्रतु इन्द्र, सीर के स्वामी हुए और मरुद्गण किसान हुए।

यहाँ इन्द्र को सीरपति कहा है और मरुतों को किसान। इससे ज्ञात होता है कि सूर्य और वायु ही शुनासीर हैं। गोपथब्राह्मण में लिखा है—

त्रयोदशं वा एतं मासमाप्नोति, यच्छुनासीर्येण यजते।
एतावान् वै संवत्सरः यावानेष त्रयोदशो मासः। ....संवत्सरो वै शुनासीरः॥

—गोपथ० २।१।२६

अर्थात् जो शुनासीर से यज्ञ करता है, वह इस तेरहवें महीने को प्राप्त होता है। इतना ही संवत्सर है, जितना यह तेरहवाँ महीना है। संवत्सर ही शुनासीर है।

यहाँ तेरह मास के संवत्सर को 'शुनासीर' कहा है। संवत्सर वर्षाऋतु में ही पूरा होता है, इसी से उसको वर्ष कहते हैं। वर्षा करनेवाले इन्द्र और वायु ही है, इसलिए वे शुनासीर कहलाते हैं।

खेती के विषय में इस सूक्त का पाँचवाँ मन्त्र इस प्रकार है—

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥

—ऋ० ४।५७।४

यहाँ खेती के सभी पदार्थों को शुना कहा गया है। इस मन्त्र के आगे वह मन्त्र है जो ऊपर लिखा गया है, जिसमें शुनासीरौ पद आता है। इसमें आये हुए शुना शब्द का अर्थ तो ऊपर वेद ही ने कर दिया कि खेती के समस्त पदार्थों को शुना कहते हैं। अब 'सीर' का अर्थ देखना चाहिए।

सीर सब्द बहुत ही प्रसिद्ध है। सभी कहते हैं कि तुम्हारे कितनी सीर है, यह हमारी सीर= भूमि है, आदि। संस्कृत में सीर कहते हैं हल को। अमरकोश में लिखा है—

निरीशं कुटकं फालः कृषको लाङ्गलं हलम्।
गोदारणं च सीरोऽथ शम्या स्त्री युगकीलकः॥[१]

लाङ्गल, हल, गोदारण और सीर आदि नाम हल के हैं, इसीलिए देश में सीर भूमि—अपने हल की भूमि प्रसिद्ध हैं। यजुर्वेद में एक स्थान पर लिखा है कि '**सीरा युञ्जन्ति कवयः**'[२] अर्थात् बुद्धिमान् लोग हल जोड़ते हैं। इस प्रकार इस 'शुनासीरौ' द्विवचन से भी दोनों कुत्ते सिद्ध नहीं होते। यहाँ तक शुनासीरौ का अर्थ हुआ।

अब पयः और दिवि शब्दों का अर्थ देखिए। निघण्टु में पयः पानी को कहा गया है और दिवि शब्द तो द्यौ का वाचक है ही। इस प्रकार विवेचन करने पर ज्ञात हुआ कि शुनासीरौ आकाशीय खेती के पदार्थ हैं, जिनसे खेती और वर्षा का ज्ञान होता है और उन्हीं के अनुसार खेती की जाती है। इस प्रकार की वैदिक शैली सर्वत्र मिलती है। यहाँ भी इस श्वान शब्द से उक्त श्वानपुञ्ज का काम नहीं निकलता और न वसन्तसम्पात मृगशिरा में सिद्ध होता है।

---

१. अमर० २, वैश्य० १३।१४ २. यजुः० १२।६७

(३) मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात सिद्ध करने के लिए तिलक महोदय ने ऋग्वेद से जितने प्रमाण दिये हैं उन सबमें निम्न प्रमाण आपने बहुत प्रबल समझा है—

सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।
श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत्संवत्सर इदमद्या व्यख्यत ॥ —ऋग्वेद १।१६१।१३

इसका भाव यह है कि हे ऋतुओ! तुमने जब पूछा कि हमको इस समय किसने जगाया तब वस्ता—सूर्य ने कहा कि जगानेवाला श्वान है, क्योंकि आज संवत्सर का अन्त है।

इसपर तिलक महोदय कहते हैं कि 'ऋभु नाम ऋतु का है। ये ऋतुएँ १२ दिन तक अगोह्य सूर्य के घर निद्रा लेती है, अर्थात् चान्द्रवर्ष और सौरवर्ष का मेल मिलाती हैं, तब श्वान इनको जगाता है। यह वही श्वान है जो मृगशीर्ष के पास है। इससे स्पष्ट होता है कि मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात होता था।'

हम ऊपर कई बार कह आये हैं कि मृगशीर्ष के पासवाला एक श्वान नहीं प्रत्युत दो श्वान हैं, अत: यह वर्णन उस अवसर का नहीं है। वैदिक काल में वर्षाऋतु की बड़ी महिमा थी। वर्षा का आरम्भ और अन्त बड़ा आमोदवर्द्धक था। वर्षा भी एक प्रकार का नैसर्गिक यज्ञ समझा जाता था, इसीलिए वर्षा के आरम्भ और अन्त दोनों से वर्ष का आरम्भ होता था। जैसा वेद में लिखा है कि संवत्सर के अन्त में ऋतुओं को कुत्ते जगाते हैं उसी प्रकार यह भी लिखा है कि वर्षारूपी संवत्सर के आदि को मण्डूक सूचित करते हैं। ऋग्वेद में कहा है—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥
—ऋ० ७।१०३।१

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरोः न पूर्णमभितो वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥ —ऋ० ७।१०३।७

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि संवत्सरभर सोये हुए मण्डूक पर्जन्य पड़ते ही बोलने लगे, क्योंकि '**संवत्सरस्य तदहः**', अर्थात् संवत्सर का वही दिन है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार संवत्सर के आदि में वर्ष को मण्डूक जगाते हैं, उसी प्रकार संवत् के अन्त में वर्षाऋतु के समाप्त हो जाने पर ऋतुओं को कुत्ते जगाते हैं। एक वर्ष वर्षा के आरम्भ से शुरू होता है और दूसरा वर्षा के अन्त से शुरू होता है[१]। इस प्रकार इन दो आर्तव वर्षों की पहचान मण्डूकों और कुत्तों से बतलाई गई है।

शहरवालों को तो नहीं, परन्तु जिन्हें देहात में रहने का अवसर मिला है, वे जानते हैं कि चातुर्मास समाप्त होते ही—आश्विन-कार्त्तिक का आरम्भ होते ही कुत्तों के ऋतुदान का समय होता है। वे गर्भाधान करते हैं और रात के समय चिल्लाते हैं। उनकी वह चिल्लाहट विचित्र प्रकार की होती है। यही ऋतुदान, ऋतुओं का जगाना है और वर्षाकाल का अन्त है[२]। इस वर्णन में न कहीं मृगशीर्ष के सम्पात का नाम है और न कहीं आकशमण्डल का। यहाँ वेद के दोनों स्थलों

---

१. The end of the year, therefore, corresponded to the end of the rainy season, which also marked the beginning of the new year, and as it began from the end of Varsha (the rainy season), the year also probably came to be designated as Varsha. —*Rigvedic India, p. 456.*

२. The year too was called Sharad, because it commenced from autumn and was said to have been born of the 'watery ocean' probably meaning thereby the rainy season. —*Rigvedic India,* p. 508.

को मिलाने से यह सिद्धान्त बनता है कि वर्षा का आरम्भ मेंढ़कों से ज्ञात होता है और वर्षा का अन्त कुत्तों से। ये दोनों घटनाएँ वर्षा के आदि और अन्त में होती हैं।

४. चौथा प्रमाण है 'वृषाकपि' का। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८६ में इस वृषाकपि का वर्णन आया है। तिलक महोदय लिखते हैं कि 'सूर्यसम्पात का दूसरा प्रमाण और भी है, परन्तु वह जिस सूक्त में आया है उसका अर्थ आज तक किसी की समझ में नहीं आया'। इसके आगे आप उस सूक्त का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'वृषाकपि' मृगरूप से इन्द्र का मित्र है। जहाँ वह उन्मत्त होता है, वहाँ यज्ञ बन्द हो जाते हैं। एक बार इस मृग ने इन्द्राणी की बहुत-सी वस्तुएँ नष्ट कर दीं। इन्द्र इसका बड़ा दुलार करते थे, इसलिए इन्द्राणी इन्द्र पर बहुत क्रुद्ध हुईं, परन्तु इन्द्र तो उसको कुछ दण्ड दिये बिना ही उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। इससे और अधिक रुष्ट होकर वे उस मृग का मस्तक छेदन करने के लिए उठीं और उसके पीछे एक कुत्ता लगा दिया। इतने में इन्द्र ने बीच में पड़कर उनका समाधान कर दिया, इसलिए उस मृग का शिरच्छेदन तो न हुआ, परन्तु एक दूसरे ही मृग का शिर कट गया। इसके पश्चात् वृषाकपि नीचे अपने घर जाने लगा। यज्ञ पुनः चालू हों, इसलिए इन्द्र ने उसे आज्ञा देकर अपने घर बुलाया, और जब वह इन्द्र के घर पर आया तब उसके साथ वह प्रमादी मृग न था, अतः इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि परस्पर मिले-भेंटे'।

इस अलंकार को आप शरत्सम्पात की घटना बतलाते हैं। आप कहते हैं कि 'यह मृग, मृगशीर्ष ही है। श्वान का वर्णन उस अवसर को और भी पुष्ट करता है। दक्षिणायन में यज्ञ बन्द हो ही जाते हैं, और जब सूर्य वसन्तसम्पात में, अर्थात् देवयान (उत्तरायण) में ऊपर आता है तब फिर यज्ञ-याग होने लगते हैं। इस प्रकार यह शरत्सम्पात का ही वर्णन है'।

हम कई बार कह चुके हैं कि उस अवसर के दो श्वान हैं, एक नहीं। उनका वर्णन जहाँ कहीं आता है, द्विवचन में ही आता है। इस सूक्त का श्वान भी कोई दूसरा ही पदार्थ है। इसी प्रकार मृग भी मृगशिर नहीं, किन्तु बादल ही है, और इन्द्र भी सूर्य ही है। अब वृषाकपि का अर्थ खुलने से सारा ही भेद खुल जाएगा। वृषाकपि ऋग्वेद और अथर्ववेद में केवल एक ही सूक्त में इसी रूप से आता है, इसलिए वृषा और कपि दोनों शब्दों को अलग-अलग ही देखना पड़ेगा। 'वृषा' इन्द्र को कहते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अमरकोश में '**सुत्रामा गोत्रभिद् वज्री वसंवो वृत्रहा वृषा**'[१] कहा गया है। इन्द्र के इन सब नामों में 'वृषा' शब्द स्पष्ट रूप से आया है। इन्द्र शब्द सदैव सूर्य या विद्युत् के लिए आता है, इसलिए यहाँ वृषा का अर्थ या तो सूर्य है या विद्युत्। अब कपि का अर्थ देखना है। कपि शब्द ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं नहीं आता। वह इसी सूक्त में वृषा के साथ आता है, और एक बार इसी सूक्त में अकेला भी आया है। पाँचवें मन्त्र में कहा है—

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्। शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवम्[२] ॥

—ऋ० १०।८६।५

१. अमर० प्रथम० स्वर्ग० ४५

२. इस मन्त्र का अर्थ है—उस मृग ने इन्द्राणी की वस्तुएँ नष्ट कर दीं। ग्रिफिथ महोदय अपने 'हिम्स आफ़ दि ऋग्वेद' में पृष्ठ ५०७ पर लिखते हैं कि 'Kapi hath marred the beauteous things all deftly wrought, that were my joy'.

यहाँ मृग के लिए ही कपि शब्द आया है। लोक में भी हम कपि को 'शाखामृग' नाम से पाते हैं। इससे अच्छी प्रकार बोध होता है कि यह कपि मृग ही है। अब मृग का अर्थ खुलते ही सारा वर्णन स्पष्ट हो जाएगा। हम कहते हैं कि मृग बादल ही है। हम ही नहीं प्रत्युत तिलक महोदय स्वयं कहते हैं कि 'ऋग्वेद में एक दूसरे स्थान पर ऐसा वर्णन है कि इन्द्र ने वृत्र का शिरच्छेदन किया और वृत्र मृगरूप होकर दिखाई पड़ने लगा'[१]। वह मन्त्र यह है—

निरीन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धनुभ्यो अस्फुरः।
निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनो निः पर्वतस्य गा आजः॥ —ऋ० ८।३।१९

यहाँ इन्द्र, वृत्र और मृग का ही वर्णन है। यहाँ मृग को 'मायिनः' माया करनेवाला कहा है। मारीच मायारूप मृग हुआ ही था। वृत्र भी माया करनेवाला है। निरुक्त २।१६ में लिखा है कि **'तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः'**, अर्थात् वृत्र किसे कहते हैं? निरुक्तवाले मेघ को वृत्र कहते हैं। अब स्पष्ट हो गया कि वृत्र मेघ ही है और वृत्ररूपी मृग भी मेघ ही है, इसलिए शाखामृग रूपधारी कपि भी मेघ ही है। इस प्रकार ज्ञात हुआ कि वृषा, अर्थात् इन्द्र और कपि अर्थात् बादल ये दोनों जहाँ एक साथ हों, उस अवस्था को वृषाकपि कहते हैं।

वेदों में बादल के लिए जितने नाम आये हैं उनमें वृषभ, मृग और कपि शब्द भी बादल के लिए प्रयुक्त हुए हैं[२]। ऋग्वेद १०।१२३।४ में आया है कि—**'मृगस्य घोषम्'**, अर्थात् मृग का घोष। पृथिवी पर विचरनेवाले मृगों की आवाज़ ऐसी नहीं होती जिसको घोष कहा जाए। मृग बहुत ही धीमी आवाज़ में बोलते हैं, परन्तु यहाँ मृग का घोष कहा गया है, इससे प्रकट होता है कि 'मृग' मेघ ही है। तिलक महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'वेद में वृत्र को मृग कहा गया है'[३]। वृत्र निश्चय ही मेघ है, अतः **'मृगस्य घोषम्'** का अर्थ बादल की गर्जना ही है। दूसरे स्थान पर ऋग्वेद १।८०।७ में **'मायिनं मृगम्'** कहा गया है। यह भी बादलों के लिए ही आया है, क्योंकि पृथिवी के मृग कोई माया नहीं करते, परन्तु बादल क्षण-क्षण में बदल-बदलकर नाना प्रकार की माया करते हैं और अनेक प्रकार के रूप धारण करते हैं। इस विवेचन से निश्चित होता है कि मृग बादल हैं और वृषाकपि, बादल संयुक्त सूर्य है, अतः उपर्युक्त वृषाकपि सूक्त की घटना मेघाच्छन्न सन्ध्याकालीन सूर्य की ही प्रतीत होती है।

तिलक महोदय ने भी वृषाकपि को एक विशेष प्रकार का सूर्य ही माना है[४], परन्तु हम यहाँ देखना चाहते हैं कि प्राचीन वैदिकों ने 'वृषाकपि' का क्या अर्थ किया है। गोपथब्राह्मण २।६।१२ में लिखा है कि 'सूर्य ही वृषाकपिं है, क्योंकि वह काँपता हुआ जल बरसाता है। यही वृषाकपि का वृषाकपित्व है। कपि के समान ही वह सब लोकों में चमकता है। वृषाकपि का वर्षा ही रूप

---

१. I have already alluded to the fact that in the Rigveda Vritra is often said to appear in the form of Mriga. —*Orion, p. 117.*

२. वेदों में जो शब्द बादलों के लिए प्रयुक्त हुए हैं वे ही असुरों के लिए भी कहे गये हैं और सूर्य आदि जो शब्द देवताओं के लिए आये हैं वही आर्यों—ब्राह्मणादिकों के लिए भी कहे गये हैं। तदनुसार वेद के महिष, मृग और कपि आदि नाम बादलों के हैं तथा महिषासुर, मारीचमृग और सुग्रीवकपि आदि नाम अनार्य जातियों के रक्खे गये हैं, इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि 'कपि' और 'मृग' शब्द भी मेघ के ही वाचक हैं।

३. In the Rigveda Vritra is often said to appear in the form of a Mriga. —*Orion, p. 117.*

४. In fact there seems to be a general agreement that Vrishakapi represents the sun in one form or the other. —*Orion, p. 172.*

है[१]। बृहद्देवता में इस सूक्त का विषय बतलाते हुए कहा गया है कि इन मन्त्रों में वर्षाऋतु के सन्ध्याकालीन सूर्य का वर्णन है[२]। इन वैदिक अर्थों के सहारे अब देखना चाहिए कि उक्त सूक्त का क्या अर्थ होता है।

सूर्य-सम्मिलित बादल, इन्द्र (विद्युत्) के मित्र हैं। सन्ध्या समय तीनों एकत्र हुए। जब मृगरूप बादल उन्मत्त हुआ और चमक-चमककर सन्ध्याकालीन उषा (इन्द्राणी) की शोभा बिगाड़ने लगा तब इन्द्राणी ने श्वान नामी आग्नेय किरण (जिसकी चर्चा सरमा नामी शुनी के वर्णन में कर आये हैं) इस मृग के पीछे लगा दी। वर्षाऋतु में सायंकाल के समय कभी-कभी सूर्य नहीं दिखता, परन्तु एक विशेष प्रकार का प्रकाश दिखलाई पड़ता है। यह प्रकाश ही श्वान नामक किरण है। इन्द्र ने बादलों को ताड़ित किया, परन्तु बादल का वह टुकड़ा जिसमें सूर्य छिपा था न टूटा, प्रत्युत दूसरा टूट गया। इसी को कहा गया है कि वह मृग न मरा। इतने में सूर्यास्त हो गया, अर्थात् सूर्य चमकते-गरजते उस बादल के टुकड़े के साथ नीचे चला गया। रात हो गई और यज्ञ-याग—कामकाज बन्द हो गये। दूसरे दिन प्रातःकाल जब सूर्य निकला उस समय मृग नहीं था, अर्थात् आकाश निरभ्र था। उस समय सूर्य, विद्युत् और उसकी आभा आपस में मिलीं, अर्थात् एक हो गईं।

यह वृषाकपि का अलङ्कार वर्षाऋतु की सन्ध्या के समय का है। वर्षाऋतु में कभी-कभी यह अनोखा और काव्यमय दृश्य दिखलाई पड़ता है। सन्ध्या समय काली घटा छाई हो, विद्युत् चमकती हो, सूर्य की प्रखरता का लोप हो और एकाध किरण दूर देश में अपना प्रकाश किये हो, उस समय इस दैवी घटना का अपूर्व दृश्य दिखलाई पड़ता है। इसी दशा में रात हो जाती है और लोगों के कामकाज पड़े रह जाते हैं। दूसरे दिन जब सूर्य निकलता है तब कामकाज आरम्भ होते हैं। देवयान, अर्थात् दिन में कामकाज होते हैं और पितृयान, अर्थात् रात में बन्द हो जाते हैं। दिन और रात भी देवयान और पितृयान कहलाते हैं[३]।

बादलयुक्त सूर्य का प्रातः और सायं दृश्य इस देश में अनेक प्रकार से वर्णित हो चुका है। वृषाकपि का अलङ्कार पुराणों में हनुमान् की उत्पत्ति के साथ जोड़ दिया गया है। यह प्रसिद्ध है कि हनुमान् ने सूर्य को निगल लिया था। वृषा सूर्य और कपि हनुमान् ही हैं। आज तक ब्राह्मण लोग प्रातः-सायं सन्ध्या के समय सूर्याञ्जलि देते हैं और कहते हैं कि बाल सूर्य को राक्षस घेरते हैं, अतः इस अञ्जलि का जल बाण होकर उनको मार देता है। तुलसीदास ने भी लिखा है कि **'बाल रवि हि घेरत दनुज'**। ये दनुज़, कपि, मृग आदि बादल ही हैं, जो सायं-प्रातः सूर्य के आस-पास रहते हैं।

---

१. आदित्यो वै वृषाकपिस्तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपिः। तद् वृषाकपेर्वृषाकपित्वम्। कपिरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद। ....वार्षरूपं हि वृषाकपेस्तन्न्यायमित्येव।

२. वृषैव कपिलो भूत्वा यन्नाकमधिरोहति। वृषाकपिरसौ तेन विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।
रश्मिभिः कम्पयन्नेति वृषावर्षिष्ट एव सः। सायाह्नकाले भूतानि स्वापयन्नस्तमेति च।
वृषाकपिरितो वा स्यादिति मन्त्रेषु दृश्यते। वृषाकपायी सूर्यास्तकाल आहुः।

३. वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः। ते देवा ऋतवः। शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवा पूर्यतेऽर्धमासः स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पुनरह्नः पूर्वाह्नो देवाः, अपराह्नः पितरः।

—शतपथ पृ० २।१।३।१

इस सूक्त में वेदों ने इस प्रकार के मनोहर अलङ्कार का वर्णन करके प्राकृतिक काव्य का अन्त कर दिया है। ग्रिफ़िथ साहब ने भी इस अलङ्कार को सन्ध्याकाल के सूर्य ही में घटित किया है[१]।

हम चकित हैं कि लोकमान्य तिलक ने इस सूक्त में शरत्सम्पात की कल्पना कैसे कर ली? अभी तक तो वे वसन्तसम्पात के ही लिए परिश्रम कर रहे थे, परन्तु अब शरत्सम्पात को भी सिद्ध करने लगे। जो हो, हमने स्पष्ट रीति से उनके दिये हुए प्रमाणों की आलोचना कर दी है, जिनका सम्बन्ध वेदों से था। लोकमान्य तिलक ने कुछ प्रमाण ब्राह्मणग्रन्थों से भी दिये हैं जो हमें मान्य हैं, किन्तु उन प्रमाणों में उन्होंने दो अशुद्धियाँ की हैं जो हमें मान्य नहीं है। एक तो अर्थ करने में अभिप्राय को उलट दिया है, दूसरे उनसे निकलनेवाले समय की इयत्ता निश्चित कर दी है। आगे हम इस विषय का सविस्तर वर्णन करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों से जो काल ठीक-ठीक निकलता है वह तिलक महोदय के वेद से निकाले हुए काल से बहुत आगे बढ़ जाता है, इसलिए उन्हें अर्थ की काट-छाँट करने की आवश्यकता हुई। ब्राह्मणों से सिद्ध होनेवाले ज्योतिष्-सम्बन्धी तीन प्रमाणों को हम नीचे लिखते हैं और देखते हैं कि उनका ठीक-ठीक कितना समय निकलता है। स्वर्गवासी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का ज्योतिष्-विषयक ज्ञान बहुच ऊँचा समझा जाता है। उन्होंने शतपथब्राह्मण का यह वाक्य उद्धृत किया है—

कृत्तिकास्वादधीत। एताह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।
सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते॥ —शत० २।१।२।२-३

अर्थात् कृत्तिका में अग्न्याधान करना चाहिए, क्योंकि कृत्तिका ही पूर्व दिशा से नहीं हटती, दूसरे सब नक्षत्र हट जाते हैं।

दीक्षित महोदय का मत है कि 'च्यवन्ते' और 'न च्यवन्ते' आदि वर्त्तमानकालिक क्रिया से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस समय उक्त वाक्य लिखा गया, उस समय कृत्तिका ठीक विषुव-वृत्त पर दिखलाई पड़ती थी, किन्तु ईस्वी सन् १९०० में जब दीक्षित ने कृत्तिका का वर्त्तमान स्थान देखा तो वह विषुव-वृत्त के ऊपर ६८ अंश पर स्थित दिखाई दी। एक अंश को तय करने में ७२ वर्ष लगते हैं, इसलिए आज तक इस घटना को हुए (६८×७२=४८९६+२९=) ४९२५ वर्ष होते हैं[२], अर्थात् आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पूर्व शतपथब्राह्मण का उक्त वाक्य लिखा गया सिद्ध होता है।

एक दूसरा प्रमाण है, जिसको ज्योतिःशास्त्रविशारद वी०बी० केतकर महोदय ने ढूँढा है। यह तैत्तिरीयब्राह्मण में इस प्रकार है—.

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानस्तिष्यं नक्षत्रमभिसम्बभूव। —तैत्ति० ३।१।१५

इस वचन से प्रकट होता है कि बृहस्पति को तिष्य, अर्थात् पुष्यनक्षत्र का अधिक्रमण किये, ईस्वी सन् पूर्व ४६५० वर्ष हो गये थे। आज तक इसका समय (४६५०+१९२९=) ६५७९ वर्ष होता है[३]। तिलक महोदय ने वेदों की रचना का समय ईस्वी सन् पूर्व अधिक-से-अधिक चार

---

१. He is also said to be the setting sun, and the sun who draws up vapour and irrigates with mist.
—*Hymns of the Rigveda*, p. 507.

२. इस संख्या में अभी १०५ वर्ष की कमी है।

३. ऋग्वेद ४।५०।४ में भी एक इसी प्रकार का वाक्य है, परन्तु उसमें तिष्य का नाम नहीं है। वह वाक्य यह है—'**बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्**'।

ही हज़ार वर्ष माना है, जिसमें १९२९ जोड़ने से ५९२९ ही वर्ष होते हैं, परन्तु ऊपर लिखा हुआ तैत्तिरीयब्राह्मण का प्रमाण इस अवधि से ६५० वर्ष और आगे जाता है। तिलक महोदय के निकाले हुए समय से जब तैत्तिरीयब्राह्मण ही (जो सबसे नवीन है) छह-सात सौ वर्ष पुराना सिद्ध होता है तब दूसरे ब्राह्मणों की तो कथा ही क्या? आइए, शतपथब्राह्मण का एक और प्रमाण दिखलाएँ।

एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी। —शत० ६।२।२।१८

इसमें कहा गया है कि फाल्गुनी पूर्णमासी संवत्सर की प्रथम रात्रि है। इसके अनुसार वसन्तसम्पात फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन होता था। गणित करने से इसका समय आज तक लगभग २२,००० वर्ष होता है। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा में २६,००० वर्ष लगते हैं, किन्तु क्रान्तिवृत्त की विरुद्ध दिशा की एक विशेष चाल के कारण, यह काल २,१०० वर्ष का ही रह जाता है। इस समय वसन्तसम्पात पूर्वाभाद्रपद में है, परन्तु जब वसन्तसम्पात फाल्गुनी पूर्णमासी में होता था उस समय वसन्तसम्पात उत्तराभाद्रपद में था। अब तक सम्पात की एक पूर्ण प्रदक्षिणा हो गई और दूसरी प्रदक्षिणा का आरम्भ हुए भी एक हज़ार वर्ष से अधिक हो गये। इस प्रकार इस घटना को हुए आज तक २२,००० वर्ष बीत चुके, परन्तु तिलक महोदय यह सब-कुछ लिखकर भी कहते हैं कि 'इन बातों में क्या रक्खा है?'[१]

भला, इस अन्धेर का कुछ ठिकाना है। बिना किसी प्रमाण के, बिना किसी दलील के और बिना किसी अधिकार के केवल इतना कह देने से ही हो गया कि 'इन बातों में क्या रक्खा है?' क्या यह बाईस हज़ार वर्ष का समय ही इसकी अप्रामाणिकता का हेतु हो गया? ऐसा तो न होना चाहिए। आप इस फाल्गुनी पूर्णमासी का तात्पर्य उदगयन में वर्ष का आरम्भ मानते हैं। मानिए, परन्तु यह तो बताइए कि क्या कभी उदगयन में भी वर्ष का आरम्भ होता था? आपने तो स्वयं कहा है कि 'इन सब कारणों को देखते हुए जब तक इसके विरुद्ध कोई सबल प्रमाण न मिले तब तक इस सिद्धान्त के मानने में तनिक भी शक नहीं है कि प्राचीन वैदिक काल में जब सूर्य वसन्तसम्पात में होता था तभी वर्ष का आरम्भ होता था'[२]। जब प्राचीनकाल में सदैव वसन्तसम्पात से ही वर्ष का आरम्भ होता था तब उस समय जब वर्ष का आरम्भ फाल्गुनी पूर्णिमा कहा गया है, वर्षारम्भ वसन्तसम्पात में क्यों नहीं था? उस समय के लिए क्या प्राचीन नियम बदल गया? कभी नहीं। उस समय भी वसन्तसम्पात से ही वर्षारम्भ होता था। जब प्राचीन इतिहास उच्च स्वर से घोषणा कर रहा है कि **'मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः'**,[३] अर्थात् वसन्त ही ऋतुओं का मुख है, तब यह घोषणा त्रिकाल में मिथ्या नहीं हो सकती और न उक्त वाक्य का कोई अर्थ ही हो सकता है, इसलिए हम बलपूर्वक कहते हैं कि निस्सन्देह इस वाक्य का कोई दूसरा अर्थ ही हो सकता है, इसलिए हम बलपूर्वक कहते हैं कि निस्सन्देह यह वाक्य कम-से-कम २२,००० वर्ष का प्राचीन है। यहाँ तक तो हमने तिलक महोदय के उस दोष का वर्णन किया जिसमें भाव बदलने की बात थी। अब समय निर्धारण की बात का स्पष्टीकरण करते हैं।

---

१. We can not suppose that the Phalguni full moon commenced the year at the vernal equinox; for then we shall have to place the vernal equinox in Uttara Bhadrapad, which to render possible in pre-Krittika period, we must go back to something like 20,000 B.C. —*Orion*, p. 69.

२. I do not here repeat the ground on which I hold the year, in premitive time commenced with vernal equinox. —*Orion*, p. 170.

३. तै० १।१।२।६-७

हमको, आपको, तिलक महाराज को और अन्य किसी को भी क्या अधिकार है कि वह इन समयों को पहली ही आवृत्ति का समझे, अर्थात् वह यह क्यों समझ ले कि यह अवस्था केवल अभी हाल ही की आवृत्ति की है ? हम ऊपर लिख चुके हैं कि किसी ज़माने में वसन्तसम्पात फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन होता था। उसको बीते हुए पूरा एक चक्कर हो गया और दूसरे चक्कर में भी सैकड़ों वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु प्रश्न तो यहीं पर होता है कि यह पहला ही चक्कर पूरा हुआ है या ऐसे कई एक चक्कर हो चुके हैं ? किसी को कुछ भी अधिकार नहीं है कि वह इसमें बिना किसी प्रमाण के कुछ भी कह सके। यही हाल और भी वचनों का है जो पूर्व तैत्तिरीय और शतपथ के नाम से लिखे जा चुके हैं। प्रमाण चाहे पहले के हों या दूसरे के, बात तो वास्तविक यह है कि तिलक महाराज ने वेदों का जो समय निश्चित किया है उससे हज़ारों वर्ष पूर्व तक तो ब्राह्मणों का ही समय जाता है जो वेदों के बहुत काल बाद बने हैं। ऐसी दशा में 'ओरायन' प्रतिपादित वेदों का काल जो ज्योतिष् द्वारा निकाला गया है, सर्वथा त्याज्य है[१]।

तिलक महोदय ने वसन्तसम्पात के बदलने का क्रम लेकर, तीन काल निर्धारित किये हैं। उनमें कृत्तिकाकाल तो यों ही गया, क्योंकि वह वैदिक काल के बाद का है। ऊपर विवेचन किया हुआ मृगशीर्षकाल ही प्रधान समय है। इसी पर लोकमान्य ने ज़ोर भी दिया है, इसी के लिए प्रमाण भी दिये हैं और इसी के नाम से पुस्तक का नाम भी 'ओरायन' रक्खा है, परन्तु हमने उनके दिये हुए समस्त प्रमाणों को देख डाला, उनमें एक भी ऐसा प्रमाण न मिला जो मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात सिद्ध करे। इसके आगे मृगपूर्वकाल है जिसके लिए आप लिखते हैं कि 'इस काल तक वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी। मृगशीर्ष से यह काल दो हज़ार वर्ष और पहले जाता है। उस समय वसन्तसम्पात पुनर्वसु में था'। इसके लिए आपने जो वेदों से प्रमाण उद्धृत किये हैं उनकी भी आलोचना कर लेनी चाहिए। आप कहते हैं कि 'यजुर्वेद ४।१९ में अदिति को '**उभयतः शीर्ष्णी**' कहा है और ऋ० १०।७२।५ में अदिति को देवों की माता कहा है तथा ऋ० १०।७२।८ में उससे आदित्यों की उत्पत्ति कही है। इधर ऐतरेयब्राह्मण १।७ में लिखा है कि यज्ञ अदिति से शुरू हों और अदिति की समाप्ति पर समाप्त हो जाएँ। इसके अतिरिक्त यज्ञवाले ग्रन्थों में लिखा है कि अदिति पुनर्वसु की अधिष्ठात्री है'।

पुनर्वसु में वसन्तसम्पात कभी था, इसपर ध्यान देने के लिए इतने ही प्रमाण आप बताते हैं और 'अदिति' तथा 'पुनर्वसु' दो ही शब्दों पर सारा भवन खड़ा करते हैं, परन्तु वेदों में पुनर्वसु की चर्चा ही नहीं है, जिसे आप भी स्वीकार करते हैं[२], अतः हमें भी शेष प्रमाणों से सरोकार नहीं है, क्योंकि हम तो केवल संहिताओं के ही समय की आलोचना कर रहे हैं। ऊपर अदिति की चर्चा यजुर्वेद में बतलाई गई है और ऋग्वेद में वह देवताओं और आदित्यों को जननी कही गई

---

१. हमने ज्योतिष के आधार पर ब्राह्मणगन्थों से तीन प्रमाण दिये हैं, परन्तु तीनों का समय भिन्न-भिन्न है। इससे यह शंका हो सकती है कि एक ही प्रकार के ग्रन्थों से भिन्न-भिन्न समय कैसे निकलते हैं। इस आपत्ति का सरल उत्तर यही है कि ब्राह्मणग्रन्थ समय-समय पर—वैवस्वत मनु से लेकर कलि के आरम्भ तक बनते रहे हैं। जिस प्रकार १७ पुराणों में भूत इतिहास लिखकर अन्तिम भविष्यपुराण को भविष्य घटनाओं के लिए रक्खा गया है, उसी प्रकार ब्राह्मणकाल में भी तीनों कालों की घटनाएँ ब्राह्मणों में ही लिखी जाती थीं।

२. There is no express passage which states that Punarvasu was ever the first of the Nakshatras, nor have we in this case any synonym like Agrahayan or Orion wherein we might discover similar traditions. —*Orion*, p. 201.

है, इससे स्पष्ट हो गया कि वह प्रकृति है। दो शीर्ष्णी का भाव भी यही है कि वह मारने और पैदा करनेवाली है। उस अदिति, अर्थात् मूलप्रकृति से और इस पुनर्वसुवाली अदिति का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ज्योतिष् का कोई पारिभाषिक शब्द होगा, अतः हमारे प्रकरण से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ तक हमने तिलक महाराज के समस्त प्रमाणों की पड़ताल की और देखा कि उनमें वेद का कोई ऐसा प्रमाण नहीं हैं जो वसन्तसम्पात का दर्शानेवाला हो। प्रत्युत देखा गया कि वे प्रमाण कुछ दूसरे ही अर्थ के सूचक हैं। जो लोग लोकमान्य तिलक की उक्त पुस्तक के कोटिक्रम को निर्भ्रान्त समझते हों वे ध्यानपूर्वक लोकमान्य की भूमिका पढ़ें। उसमें उन्होंने स्पष्टतया कह दिया है कि 'यद्यपि मैंने इस विषय का वर्णन किया है, परन्तु मैं नहीं कह सकता कि मैंने उक्त विषय को प्रत्येक प्रकार से जैसा चाहिए वैसा प्रतिपादित किया है[१]।' इतना ही नहीं प्रत्युत उक्त विषय का खण्डन करनेवाला एक दूसरा ग्रन्थ आपने लिखा है जिसका नाम 'आर्यों का उत्तरध्रुव निवास' (Arctic Home in the Vedas) है। इस ग्रन्थ के पूर्व 'मृगशीर्ष' लिखने के कारण लोकमान्य तिलक को ऐसी अड़चन उपस्थित हुई कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। यहाँ हम उसका थोड़ा-सा इतिहास देकर उसके विषय-प्रतिपादन की ओर आना चाहते हैं। तिलक महोदय ने ओरायन (मृगशीर्ष) ग्रन्थ लिखने के पाँच वर्ष बाद सन् १८९८ में 'उत्तरध्रुव निवास' लिखा और उसका सारांश एक पत्र द्वारा मैक्समूलर के पास भेजा। पत्र के उत्तर में मैक्समूलर ने लिखा कि कितने ही वेदवाक्यों का अर्थ जैसा आप लिखते हैं वैसा हो सकता है तथापि मुझे शंका है कि आपका सिद्धान्त भूगर्भशास्त्र के साथ मिल सकेगा? इसका तात्पर्य यह है कि भूगर्भशास्त्र के अनुसार हिमप्रपात को हुए बहुत अधिक काल हो चुका है, और आप वेदों को छह हज़ार वर्ष का ही पुराना मानते हैं, ऐसी दशा में हज़ारों-लाखों वर्ष की पुरानी हिमप्रपात और उत्तरध्रुव की बात का वर्णन वेदों में कैसे आ सकता है? मैक्समूलर के ऐसा लिखने का कारण यह था कि उस समय तक भूगर्भशास्त्र ने हिमप्रपात का समय ८० हज़ार वर्ष से ऊपर माना था। तिलक महोदय इस बात से सचेत हुए और उस ग्रन्थ को पाँच वर्ष तक छपने से रोक रक्खा। इतने में 'इन्साइक्लोपिडिया ब्रिटानिका' की दशवीं आवृत्ति छपकर बाहर निकली। उसमें कुछ अमेरिकन भूशास्त्रियों ने हिमप्रपात का समय आठ-दश हज़ार वर्ष पूर्व ही माना। बस, इसको देखते ही तिलक महोदय ने सन् १९०३ में इस ग्रन्थ को छपाकर प्रकाशित कर दिया। तब भी छह हज़ार और दश हज़ार के बीच का चार हज़ार वर्ष का समय बढ़ गया, परन्तु इस चार हज़ार वर्ष की बीती हुई बातें वेदों में कैसे आईं इस प्रश्न का उत्तर आपने यह देकर टाल दिया कि आज चार हज़ार वर्ष से तो हम ब्राह्मण लोग ही वेदों को कण्ठ किये हुए हैं। जिस प्रकार इतने दिन से हम इस काव्य को याद किये हुए हैं उसी प्रकार हमारे पूर्वज भी वेदों में वर्णित घटनाओं को चार हज़ार वर्ष तक याद किये रहे और जब भारत में आकर सुख से रहने लगे तब उन्हीं याद की हुई बातों के आधार पर वेदों को छन्दोबद्ध काव्य में कर लिया। इस विषय में एक जगह आप कहते हैं कि 'एशिया में बसनेवाले आर्यों की जैसी उन्नति देखने में आती है, वैसी उन्नति नव-पाषाणयुग से उत्तरयूरोप में बसे हुए आर्ओं में नहीं पाई जाती। इसका कारण यह है कि उन्होंने

---

१. Though I have ventured to write on the subject I can not claim to have finally solved this important problem in all its bearings. —*Orion*. p. 2.

में भी इस घटना का वर्णन है। उत्तरध्रुव में महीनों तक सुहावनी उषा होती है और वेदों में भी इस सुन्दर उषा का वर्णन है। उत्तरध्रुव में सूर्य दक्षिण की ओर से उदित होता हुआ दीखता है और वेदों में भी सूर्य को दक्षिण-पुत्र कहा गया है। इनके अतिरिक्त दो एक छोटी-छोटी अन्य भी घटनाएँ हैं और उनका वेदों में वर्णन है। इन समस्त घटनाओं के वर्णन से तिलक महोदय यह अर्थ निकालते हैं कि किसी समय आर्यलोग वहाँ अवश्य रहते थे, इसीलिए आँखों देखे वर्णन वेदों में लिखे जा सके। उनकी इस उक्ति पर कई विद्वानों ने अपने-अपने तर्क चलाये हैं। पूनानिवासी नारायण भवानराव पावगी ने 'आर्या वर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' नामी ग्रन्थ में लिखा है कि आर्यलोग भारत देश से उत्तरध्रुव को गये, वहाँ यह सब दृश्य देखा और लौटकर फिर इसपर रचना की। बाबू अविनाशचन्द्र दास ए० एम० ने अपने 'ऋग्वेदिक इण्डिया' नामी ग्रन्थ में उक्त वर्णनों का अर्थ बदलकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यह सब घटना पञ्जाब प्रान्त की है। इसी प्रकार बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' में लिखा है कि तिलक महोदय ने वेदों का अर्थ पाश्चात्यों के अनुसार किया है, उन्हें वेदार्थ करना ज्ञात नहीं था, इत्यादि।

हम कहते है कि जिन मन्त्रों का अर्थ तिलक महोदय ने किया है, वे मन्त्र कहीं चले तो नहीं गये? वे अब भी विद्यमान हैं, अत: जिसकी इच्छा हो वह देख ले और अर्थ कर ले। हमने भी उक्त मन्त्रों को देखा है। हमारी समझ में तो वेदों के उन मन्त्रों में उत्तरध्रुव का ही वर्णन है। चक्राकार उषा, ध्रुव और दीर्घ रात्रि-सम्बन्धी ऐसे वचन हैं, जिनका दूसरा कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता। सायणाचार्य ने भी दीर्घ रात्रिवाले मन्त्रों का अर्थ किया है, परन्तु उनको उत्तरध्रुव का अर्थ नहीं सूझा। इसलिए दीर्घ रात्रिवाले मन्त्रों को उन्होंने हेमन्तऋतु की रात समझ लिया, किन्तु हेमन्तऋतु की रात ऐसी नहीं होती, जिसके लिए रोया-चिल्लाया जाए, उससे बचने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की जाए और प्राणों पर आ पड़े। यह रात निस्सन्देह उत्तरध्रुव की ही है, किन्तु प्रश्न यह है कि वेदों में उत्तरध्रुव की घटनाओं का वर्णन कहाँ से आया। हमारा तो विश्वास है कि यह वर्णन वहाँ जाने से नहीं सूझा, प्रत्युत उच्च कोटि के ज्योतिषृज्ञान का फल है। वहाँ की ऐसी स्थिति जानकर कभी भी कोई वहाँ बसने की इच्छा से नहीं गया। यह हमारी ही कल्पना नहीं है। इस विषय का एक अच्छा प्रमाण वाल्मीकि रामायण में मिलता है। सुग्रीव वानरों से कहते हैं कि सीता को ढूँढने के लिए उत्तरकुरु की ओर जाओ, परन्तु—

न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः। अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम्॥

—वा० रा० कि० ४३।५७, ५९

ख़बरदार तुम लोग उत्तरकुरु के उत्तर कदापि मत जाना। वहाँ असीम अन्धकार होता है और उसके आगे का हाल कुछ भी ज्ञात नहीं है।

यह वर्णन हमें दो बातें बतलाता है—एक तो यह कि यहाँवाले वहाँ की अन्धकार आदि सब ज्योतिष्-सम्बन्धी घटनाओं को जानते थे, दूसरे यह कि वहाँ कोई जाता नहीं था। तब सवाल होता है कि बिना गये वहाँ का हाल कैसे ज्ञात हुआ? हम फिर कहते हैं कि वहाँ का ज्ञान ज्योतिशशास्त्र और भूगोलशास्त्र की अपार विद्या से ही जाना गया। आजकल छोटे-छोटे बच्चों को स्कूलों में उत्तरध्रुव की छह महीने की रात और छह महीने का दिन, और उत्तरायण, दक्षिणायन आदि की शिक्षा किस प्रकार दी जाती है? क्या यह सब वहाँ जाकर दिखलाया जाता

है ? कभी नहीं। तब जिस प्रकार सब शिक्षक ग्लोब, नक़शा, लैम्प और अन्य साधनों से छोटे बच्चों को वहाँ का ज्ञान करा देते हैं, उसी प्रकार वेदों का भी वह ज्ञान परमात्मा की गुरुपरम्परा से आया, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हैं। बाहर से जाकर उत्तरध्रुव में बसनेवाला, वहाँ की दीर्घ रात्रि से घबराकर, उससे छूटने की प्रार्थना कभी नहीं कर सकता, परन्तु ऋग्वेद २।२७।१४ का यह मन्त्र कि '**मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः**', अर्थात् दीर्घ अन्धकार हमपर न आवे और ऋग्वेद १।४६।६ का यह मन्त्र कि '**या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम्**', अर्थात् हमें ऐसी शक्ति दे, जो इस अन्धकार से पार करे।

अथर्ववेद का भी एक मन्त्र देखिए—

न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद्विश्वमस्यां नि विशते यदेजति।
अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि॥

—अथर्व० १९।४७।२

अर्थात् जिसका तीर दिखलाई नहीं पड़ता और सब गतिमान पदार्थ विश्राम पाते हैं, ऐसी हे प्रशस्त तमोमयी रात्रि! हमको निर्विघ्निता से अपने पार पहुँचा।

इत्यादि मन्त्र यह मानने के लिए विवश करते हैं कि बाहर का कोई यात्री ऐसे कष्ट के स्थान पर नहीं जा सकता। वहाँ जाने में तो प्रत्येक ओर से क्रम-क्रम से अन्धकार के पड़ाव आते हैं। दो-चार दिनवाली रात ही जहाँ से आरम्भ होगी वहीं से किसी को आगे जाने का साहस नहीं होगा। शोध करनेवाले भी प्रायः दिन के समय में ही वहाँ जाते हैं। जो खोज के लिए दिन के समय में वहाँ जाएगा वह छह महीने का दिन और छह महीने की रात जानता होगा। ऐसा जानकर इस प्रकार नहीं रोएगा, अतएव जिन लोगों का वर्णन उक्त वेदमन्त्रों में है वे प्रसन्नता से यात्रा करके बाहर से वहाँ नहीं गये। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो ऐसी आपत्ति में जानबूझकर पड़े और रोये-चिल्लाये ? हम रामायण के प्रमाण से भी कह चुके हैं कि वहाँ कोई आर्य बाहर से नहीं जाता था और न पूर्व समय में वह स्थान जाने के योग्य समझा जाता था तो क्या आर्यों की वहाँ उत्पत्ति हुई ? यदि वहाँ उत्पत्ति मानी जाए तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि वे वहाँ पैदा हुए और अन्धकार के सङ्कट को किसी प्रकार काटते रहे, परन्तु जब बर्फ़ का तूफ़ान आया तो भाग निकले। यह सब-कुछ हो सकता है, परन्तु बर्फ़ की वर्षा कब हुई, यह बात तो बड़े ध्यानपूर्वक देखने योग्य है।

तिलक महोदय ने अपने ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है कि हिमपात का समय ज्योतिष् और भूगर्भशास्त्र के आधारों से निकाला जाता है। आप लिखते हैं कि 'कितने ही भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार गत हिमकाल की समाप्ति बीस हज़ार अथवा अस्सी हज़ार वर्ष के पूर्व हुई, किन्तु सर राबर्ट बाल के मत से हिमकाल के कारणों को भूगर्भशास्त्र की अपेक्षा यदि ज्योतिश्शास्त्र के द्वारा ढूँढें तो समस्त कठिनाईयाँ दूर हो सकती हैं। डॉक्टर क्रॉल ने गणित द्वारा बतलाया है कि गत ३० लाख वर्ष में पृथिवी के केन्द्र की च्युति तीन बार हुई। पहली बार एक लाख सत्तर हज़ार वर्ष की, दूसरी बार दो लाख साठ हज़ार वर्ष की और तीसरी बार एक लाख साठ हज़ार वर्ष की। इस अन्तिम केन्द्र च्युति को बीते अस्सी हज़ार वर्ष व्यतीत हो चुके। डॉ० क्रॉल के इस विवेचन से ज्ञात होता है कि अन्तिम हिमकाल आज से दो लाख चालीस हज़ार वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था और अस्सी हज़ार वर्ष पूर्व समाप्त हुआ।' इसके आगे आप फिर कहते हैं कि 'अमेरिकन

भूशास्त्रवेत्ताओं ने जो दश हज़ार वर्ष पूर्व हिमपात माना है वह वर्त्तमान ज्ञान के अनुसार मानने योग्य है'। अन्त में आप कहते हैं कि 'हिमकाल की अन्तिम आवृत्ति के विषय में अनेक अनुमान हैं, किन्तु अपने वर्त्तमान ज्ञान की स्थिति के अनुसार हमें ज्योतिश्शास्त्र की अपेक्षा भूगर्भशास्त्र पर ही विश्वास रखना चाहिए। यद्यपि हिमपात के कारणों के सम्बन्ध में तो ज्योतिश्शास्त्र का ही मत अधिक विश्वस्त है'[१]।

यह है तिलक महोदय की हिमोत्पत्ति विषयक अन्तिम निष्पत्ति। यहाँ आप स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि हिमपात के कारण तो ज्योतिश्शास्त्र ही ठीक-ठीक बतलाता है, परन्तु अपने वर्त्तमान ज्ञान की स्थिति के अनुसार अमेरिकन भूशास्त्रवेत्ताओं का ही मत ग्राह्य है। सच है, जो ज्योतिश्शास्त्र कारण बतलावें उसके अनुसार तो कार्य न माना जाए, किन्तु भूगर्भशास्त्र के ऐसे कथानक पर विश्वास किया जाए जिसके कार्यकारण का कोई ठिकाना न हो।

यहाँ यदि सूक्ष्मता से देखें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने ज्योतिष्प्रतिपादित काल ही सत्य माना है, परन्तु चूँकि ओरायन ग्रन्थ में आप वेदों की आयु छह हज़ार वर्ष बतला चुके हैं, ऐसी दशा में अब लाखों वर्ष की बात कैसे स्वीकार करें? 'वर्त्तमान ज्ञान' लिखकर आपने अमेरिकन विद्वानों की बात मान ली, क्योंकि ओरायन और इनकी कल्पना में थोड़ा ही अन्तर पड़ता है। इस अन्तर के लिए आपने लिखा है कि दश हज़ार वर्ष पूर्व बर्फ़ पड़ा, तथा चार हज़ार वर्ष तक सुन-सुनकर ध्रुवप्रदेश की घटनाएँ याद रक्खीं, और इसके पश्चात्, अर्थात् आज से छह हज़ार वर्ष पूर्व वेदरूप कविता में लिख लीं। इस प्रकार गोलमाल करके तिलक महोदय ने अपनी बात आगे बढ़ा दी है।

हम अभी थोड़ी देर पहले लिख आये हैं कि उत्तरध्रुव में आर्यलोग बाहर से नहीं गये। तिलक महाराज के दिये हुए विवेचन से भी यही बात पाई जाती है। ऐसी दशा में ऐसी ध्वनि निकलती है कि आर्यों की उत्पत्ति उत्तरध्रुव में हुई। यदि ऐसा है तो आर्यलोग वहाँ से तभी निकल भागे होंगे जब सबसे पहली बार वहाँ बर्फ़ का तूफ़ान आया होगा। एक स्थान पर तिलक महोदय लिखते हैं कि—'सारांश यह कि दोनों गोलार्धों में हिमकाल और हिमान्तर काल, एक के बाद दूसरा क्रम से, प्रति १०,५०० वर्ष में होता ही रहता है'[२]। यदि यह सत्य है तो यहाँ ज्योतिष् के सिद्धान्त से यह एक प्रबल सृष्टिनियम निकल आया कि प्रति १० हज़ार ५ सौ वर्ष के पश्चात् हिमपात होता ही रहता है। भले हिमपात कम या अधिक हो, परन्तु मनुष्यों को भगा देने के लिए तो थोड़ा ही बर्फ़ पर्याप्त होता है, इसलिए अब यहाँ इन तीन कल्पनाओं में से एक कल्पना सत्य होनी चाहिए। १. लोग बाहर से उत्तरध्रुव में रहने के लिए गये। २. या २० हज़ार वर्ष पूर्व आर्यलोग उत्तरध्रुव में पैदा हुए, १० हज़ार वर्ष तक सुख से वहाँ रहे और इसके पश्चात् बर्फ़ पड़ने के कारण भागकर यहाँ चले आये। ३. या वे वहाँ लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व आदिसृष्टि में पैदा हुए और अधिक-से-अधिक १० हज़ार वर्ष वहाँ रहकर सबसे प्रथम हिमपात में निकल आये।

---

१. These are various estimates regarding the duration of the Glacial period, but in the present state of our knowledge it is safe to rely on geology than on astronomy in this respect, though as regards the cause of the ice-age the astronomical explanation appears to be more probable.
—*Arctic Home in the Vedas, p. 38.*

२. In short, the glacial and inter-glacial period in the hemispheres will alternate with each other every 10,500 years, if the eccentricity of the earth be sufficiently great to make a perceptibly large difference between the winter and summer in each hemisphere. —*Arctic Home in the Vedas, p. 33.*

प्रथम कल्पना का हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं कि वहाँ रहने के लिए कोई भी बाहर से नहीं जा सकता। द्वितीय कल्पना भी मानने योग्य नहीं है, क्योंकि मनुष्यों को पैदा हुए बीस हज़ार वर्ष से अधिक हो चुके। अब केवल तृतीय कल्पना ही शेष रह जाती है कि लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य उत्तरध्रुव में पैदा हुए और पैदा होने के पश्चात् नियमानुसार साढ़े दश हज़ार वर्ष पर होनेवाला हिमपात जब हुआ तब उससे घबराकर यहाँ भाग आये। तिलक महोदय के मतानुसार ऋग्वेद के प्राचीनसूक्त हिमपात के पहले के हैं, अतः उनके मत से ही सिद्ध हुआ कि वेद भी उन पैदा होनेवालों ने ही वहाँ बनाये जो अब तक प्राप्त हैं। ओरायन नामी ग्रन्थ में वेदों की प्राचीनता को स्वीकार करते हुए, आप लिखते हैं कि 'आर्य लोग और उनका धर्म ये दोनों हिमपूर्वकालीन हैं। उनका सत्यमूल तो अतिप्राचीन भूस्तरकाल में घुसा हुआ है, अर्थात् वेद इतने प्राचीन समय से प्रचलित हैं कि जैमिनि, पाणिनि और प्राचीन ब्रह्मवादियों ने जो उनका अस्तित्व जगत् के आरम्भ से माना है और उन्हें अनादि कहा है वह स्वाभाविक ही है।' लौट-फिरकर, चक्कर लगाकर, वेद भगवान् तिलक महाराज के अनुसार, उस समय के सिद्ध होते हैं जब मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव हुआ था। यह बात अलग है कि तिलक महोदय के मत से आर्यों की उत्पत्ति उत्तरध्रुव में सिद्ध हो और हम उसे अन्यत्र मानें, परन्तु तिलक महोदय के मत से वेदों की उत्पत्ति तो मनुष्यों की उत्पत्ति के साथ-ही-साथ सिद्ध होती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

यहाँ हम अपने प्रकरण में आकर यह याद दिलाते हैं कि जिस प्रतिभाशाली विद्वान् ने ज्योतिष् के प्रमाणों से वेदों को छह हज़ार वर्ष से आगे नहीं जाने दिया वही विद्वान् अपनी दूसरी रचना में ऐसा फँस गया कि वेद लाखों-करोड़ों वर्ष के—मनुष्योत्पत्ति के समय के—आदिसृष्टि के आप-से-आप सिद्ध हो गये। अब हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि ज्योतिष् सम्बन्धी कोई ऐसी घटना नहीं है, जिससे उनका समय निकाला जा सके। वेदों में उत्तरध्रुव सम्बन्धिनी घटनाएँ हैं जो घोषणापूर्वक कहती हैं कि या तो मनुष्यजाति ने उत्तरध्रुव में पैदा होकर वेदों में वहाँ का वर्णन किया या उसे यह उत्तरध्रुव का ज्योतिष्-सम्बन्धी ज्ञान गुरु-परम्परा से गुरुओं के भी गुरु उस परमात्मा की ओर से दिया गया जिसको पतञ्जलि मुनि ने '**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**'[१] कहा है। अब जमाना पलट गया है, उत्तरध्रुवोत्पत्ति का सिद्धान्त ग़लत सिद्ध हो चुका है, अतः हम विश्वासपूर्वक कहते हैं कि वेदों में जो उत्तरध्रुव-सम्बन्धी वर्णन है, उसके कारणों को ढूँढ निकालने पर हम किसी अलौकिक परिणाम पर ही पहुँचेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। तिलक महोदय के निकाले हुए समय के आधार पर, अर्थात् छह हज़ार वर्ष के आधार पर जो विद्वान् वंशावली के समय की पुष्टि करना चाहते हैं और वेदों से ऐतिहासिक राजाओं का वर्णन निकालकर सिद्ध करना चाहते हैं कि भारतवर्ष का इतिहास छह हज़ार वर्ष से आगे नहीं जाता, उनसे हम नम्रतापूर्वक पूछना चाहते हैं कि आदिसृष्टि में बने हुए इन वेदों में वर्णित राजा, ऋषि, नगर, देश कौन-से हैं और इनकी स्थिति उत्तरध्रुव में थी या और कहीं ? साथ ही हम उन विद्वानों से भी जो इजिप्ट और बेबिलोन की सभ्यता को सबसे पुरानी बताना चाहते हैं, पूछते हैं, कि क्यों साहब! आप इन वेदों से पहले इजिप्ट की सभ्यता को किस प्रकार आगे बढ़ाने की हिम्मत करते हैं जबकि तिलक महोदय स्वयं ही अपनी बात का खण्डन कर गये।

---

१. योगदर्शन १।२६

तिलक महोदय ने जिस प्रकार अपनी प्रथम पुस्तक 'मृगशीर्ष' में वेदों से ज्योतिष्-सम्बन्धी घटनाएँ निकालने में भूलें की हैं, उसी प्रकार दूसरी पुस्तक 'उत्तरध्रुव निवास' में भी उन्होंने दो बड़ी ग़लतियाँ कर डाली हैं। एक ग़लती तो यह है कि उन्होंने आर्यों का उत्तरध्रुव से यहाँ आना सिद्ध किया और दूसरी ग़लती यह है कि उन्होंने युगों की लम्बी-लम्बी संख्याओं को पौराणिक कह दिया और युगों के द्वारा जो सृष्टिसंवत् निश्चित होता है, उसकी परवाह नहीं की। प्रत्युत सृष्टि-उत्पत्तिकाल को भी ध्रुव के हिमपात काल के साथ ही जोड़ दिया है, किन्तु आपका 'उत्तरध्रुव निवास' अब अमान्य हो गया है। इस सिद्धान्त के खण्डन में अब तक तीन विद्वानों ने तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का आगमन उत्तरध्रुव से नहीं हुआ। जब उत्तरध्रुव निवास का मूल सिद्धान्त ही ग़लत हो गया तब युगगणना और १२,००० देववर्षों की बात पर अब उनका कुछ भी प्रभाव नहीं रहा।

उत्तरध्रुव निवास की अमान्यता

तिलक महोदय के लिखे हुए 'उत्तरध्रुव निवास' ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' और बाबू अविनाशचन्द्र दास एम०ए० बी०एल० ने 'ऋग्वेदिक इंडिया' और नारायण भवानराव पावगी ने 'आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' बड़ी योग्यता से लिखे हैं। तीन ग्रन्थकार कहते हैं कि तिलक महोदय ने भूल की है। यहाँ हम तीनों ग्रन्थों से एक-एक वाक्य लिखकर दिखलाना चाहते हैं कि वे किस प्रकार लोकमान्य तिलक की पुस्तक का खण्डन करते हैं। 'आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' में पावगी महोदय कहते हैं कि 'तिलक ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि It is clear that this Soma juice was extracted and purified at night during the *Atiratra* sacrifice, (in the Arctic) and *Indra* was the only deity to whom the libations were offered in order to help in his fight with the *Asuras*, who had taken shelter with the darkness of the night.

अर्थात् उत्तरध्रुव में अतिरात्र यज्ञ के समय रात्रि में सोमरस निकालकर साफ़ किया जाता था और असुरों का पराभव करने के लिए इन्द्र को समर्पित किया जाता था, परन्तु उत्तरध्रुव में तो सोमलता होती ही नहीं। वह तो हिमालय में होनेवाली वस्तु है, क्योंकि अनेक स्थानों पर लिखा है कि मुंजवान् पर्वत पर होती है। यह मुंजवान् पर्वत् हिमालय का ही भाग है, इसलिए उत्तरध्रुव निवास का सिद्धान्त सच्चा नहीं है'। यह एक ऐसा प्रमाण है जिसने उस थ्योरी का खण्डन कर दिया है, जिसके द्वारा तिलक महोदय उत्तरध्रुव में आर्यों का निवास सिद्ध करते हैं। ऊपर के प्रमाण से तो यह परिणाम निकलता है कि आर्य वहाँ पैदा हुए, जहाँ सोमलता होती हो।

अविनाश बाबू अपने 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में लिखते हैं कि 'वेद उस समय बने जब सरस्वती नदी हिमालय से बहकर सीधी समुद्र को जाती थी। उस समय राजपूताने का मरुस्थल समुद्र हो रहा था'[१]। इस समय सरस्वती नदी का पता भी नहीं है। वह जब बहती थी उस समय इस ऋचा के कहनेवाले उस नदी को देखते थे। समुद्र कितने दिन तक रहा, सरस्वती उसमें बहकर गिरती थी, उसको कितना समय हुआ और समुद्र तथा सरस्वती को सूखे हुए कितने दिन

१. A sea actually covered a very large protion of modern Rajputana. This *Rik* clearly indicates that at the time of its composition, the river *Saraswati* used to flow from the *Himalya* directly to the sea. —*Rigvedic India*, p. 7.

हुए ? यदि समुद्र और सरस्वती एक ही समय में सूखे हों तो अविनाश बाबू की राय में उक्त घटना को हुए कम-से-कम लाखों वर्ष हो गये[१]। अविनाश बाबू के कथनानुसार लाखों वर्ष पूर्व आर्य लोग उस जगह पर थे जहाँ सरस्वती नदी और राजपूताने का समुद्र लहरा रहा था। इस प्रकार अविनाश बाबू ने भी उत्तरध्रुवोत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया और सिद्ध कर दिया कि आर्यलोग लाखों वर्ष पूर्व आर्यावर्त्त में ही रहते थे।

बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न कहते हैं कि 'तिलक महोदय का मत संशोधन करने के लिए हम गत वर्ष उनके घर गये और उनके साथ पाँच दिन तक इस विषय में बहस करते रहे। उन्होंने हमसे सरलतापूर्वक कह दिया कि हमने मूल वेद नहीं पढ़े—हमने तो केवल साहब लोगों के अनुवाद पढ़े हैं'। इस एक ही वाक्य में उन्होंने यह कह डाला कि वेदों के द्वारा तिलक महोदय का निकाला हुआ यह सिद्धान्त कि आर्य लोग उत्तरध्रुव के निवासी हैं विश्वास योग्य नहीं है, क्योंकि जो आदमी जिस पुस्तक को समझ नहीं सकता वह उसके अन्दर की बात कैसे जान सकता है और कैसे उसके आधार पर अनुसन्धान कर सकता है ? इन तीनों विद्वानों ने इतना ही नहीं लिखा किन्तु अपने ग्रन्थों में पचास से दो सौ पृष्ठों तक का सारा स्थान लोकमान्य तिलक के सिद्धान्त के खण्डन में लगा दिया है।

वेदों में सोम किस वस्तु को कहा है और सरस्वती किस पहाड़ से निकलकर किस समुद्र में गिरती है, इसका वर्णन हम यहाँ नहीं करना चाहते। हम तो यहाँ केवल यही बतलाना चाहते हैं कि जिस रीति का अर्थ तिलक महोदय को प्रिय था उसी ढंग से अर्थ करनेवाले पाश्चात्य शिष्यगण उनको मिल गये, जिन्होंने सिद्ध कर दिया कि सोमलता उत्तरध्रुव में नहीं होती, अतः वेदों में उत्तरध्रुव के सोमयाग का वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि लाखों वर्ष पूर्व आर्यलोग राजपूताने के समुद्र में सरस्वती को गिरते हुए देखते थे। तात्पर्य यह कि लाखों वर्ष पूर्व आर्य लोग वहाँ थे जहाँ सोमलता हो, सरस्वती नदी हो, और राजपूताने का समुद्र हो। इन वर्णनों से दो बातें सामने आईं—एक तो यह कि वेद लाखों वर्ष के पुराने सिद्ध हुए, दूसरी यह कि आर्यों का उत्तरध्रुव में निवास सिद्ध न होकर भारतवर्ष में सिद्ध हुआ।

अब रहा दूसरा प्रश्न जिसके विषय में लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि 'यह देववर्ष और मनुष्यों की वर्षसंख्या की गड़बड़ पौराणिक है—निराधार है। इसको देववर्ष कहना भूल है। हमारी की हुई १२,००० वर्ष की गिनती ठीक है। यह वह वर्षसंख्या है जो हिमपात आरम्भ होने से आजतक की होती है'। इसपर हम कहते हैं कि यह युगों की संख्या है, हिमकाल की नहीं।

युगगणना और मनुष्योत्पत्तिकाल

यद्यपि लोकमान्य तिलक ने अपनी पहली पुस्तक 'ओरायन' का खण्डन दूसरी पुस्तक 'आर्यों का उत्तरध्रुव निवास' के द्वारा कर दिया है, परन्तु इसमें उन्होंने बहुत ही आक्षेप योग्य यह बात लिख डाली है कि युगों की लम्बी-लम्बी संख्याएँ पौराणिक हैं, वैदिक नहीं और १२,००० देववर्षों की जो संख्या मिलती है वह उसी समय की सूचक है जिस समय उत्तरध्रुव में हिमपात हुआ था, किन्तु हम देखते हैं कि यह संख्या सृष्टि-उत्पत्ति और मनुष्य-उत्पत्ति से सम्बन्ध रखती है, इसलिए हम यहाँ

१. If the disappearance of the Saraswati was synchronous with that of the sea, then the event must have taken place some tens of thousand of years ago, if not hundreds of thousands or millions.
—*Rigvedic India*, p. 7.

इसका भी निर्णय कर लेना उचित समझते हैं। मनुष्य कब पैदा हुआ, इस विषय में तीन प्रकार के विचार पाये जाते हैं—१. धार्मिक सम्प्रदायों के अनुसार, २. वैज्ञानिकों के अनुसार और ३. वैदिक आर्यों के ज्योतिष् और ऐतिहासिक विश्वासों के अनुसार। हम यहाँ क्रम से तीनों का विचार करते हैं।

साम्प्रदायिक मनुष्योत्पत्तिकाल

धार्मिक सम्प्रदायों में इस समय हिन्दू, पारसी, यहूदी, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान ही प्रधान हैं। शेष जितने मत-मतान्तर हैं वे सब इन्हीं की शाखा-प्रशाखा अथवा मिश्रण हैं। आर्यों और पारसियों के यहाँ सृष्टिकाल वही माना जाता है जो हमारे दैनिक संकल्प से सिद्ध होता है। १२,००० दिव्य वर्षों का दैवी समय पारसियों के यहाँ भी माना जाता है। यह सिवा आर्यों की चतुर्युगी के दूसरा कुछ नहीं है। आर्यों के यहाँ भी यही माना जाता है। इस प्रकार प्राचीन आर्यों का इस विषय में मतभेद नहीं है। अब यहूदी, ईसाई और मुसलमानों के मत से केवल एक ही समय शेष रह जाता है, जो बाइबल के पुराने अहदनामे में इस प्रकार दिया हुआ है—

आदम से नोआ तक ११ पीढ़ी	२२६२ वर्ष
नोआ के पुत्र शेम से इबराहिम तक ११ पीढ़ी	१३१० वर्ष
योग	३५७२ वर्ष

इबराहिम कब हुआ इसमें तनिक-सा मतभेद है। डॉक्टर स्पीगल कहते हैं कि वह ईस्वी सन् पूर्व १९०० में हुआ। इनके अनुसार इबराहिम को हुए आज तक ३८२९ वर्ष होते हैं, किन्तु अन्य विद्वान् आदम का समय आज से ६९९३ वर्ष पूर्व बतलाते हैं, इस हिसाब से इबराहिम को हुए आजतक ३४२१ वर्ष होते हैं। दोनों का मध्यभाग यदि ३६०० वर्ष मान लें तो आदम को हुए आज तक (३५७२+३६००=) ७१७२ वर्ष होते हैं। बस, संसार के ये धार्मिक सम्प्रदाय इससे आगे नहीं जाते।

वैज्ञानिक मनुष्योत्पत्तिकाल

इसके बाद वैज्ञानिकों का नम्बर है। यह समुदाय संसार की आयु बड़े संकोच के साथ आगे बढ़ाता है। अभी ऊपर हम जिस बाइबल-काल को लिख आये हैं, उसी मार्ग से विज्ञानवेत्ताओं को आना पड़ता है, क्योंकि वे ईसाई माता-पिता की गोद में पलकर बाहर आते हैं। जब कोई विद्वान् किसी नवीन खोज से कुछ समय निश्चित भी करता है तब चालाक पादरी प्रश्न करने लगते हैं कि क्या प्रमाण है कि तुम्हारा अनुमान अचूक है—सर्वथा सत्य है और क्या प्रमाण है कि तुमने अपनी इस कल्पना में धोखा नहीं खाया? इत्यादि। ऐसी दशा में बहुत-सी बाधाएँ पड़ जाती हैं। बाधाएँ, यदि शुद्ध हृदय से डाली जाएँ तो बुरी नहीं है, परन्तु दुराग्रह और हठ से बाधा डालना बहुत बुरा है। जो हो, परन्तु वैज्ञानिकों ने बड़ी बहादुरी से संकीर्णमार्ग से निकलकर नवीन खोजों के द्वारा अच्छी-से-अच्छी गणनाओं के साथ अपने-अपने मत प्रकट करके बतलाने की चेष्टा की है कि पृथिवी की आयु कितनी है और मनुष्य को उत्पन्न हुए कितने वर्ष हुए। विज्ञानवेत्ताओं ने इस विषय का कई प्रकार से समाधान किया है। किसी ने सूर्यताप से, किसी ने समुद्र के क्षारजल से, किसी ने जमी हुई पृथिवी की तहों से और किसी ने रेडियम आदि तत्त्वों की सहायता से। इन विद्वानों की सूझ और परिश्रम पर प्रसन्नता होती है, परन्तु उतना ही दु:ख होता है जब हम देखते हैं कि इन सबके विचार परस्पर नहीं मिलते। विचारों का न मिलना इस बात की बड़ी स्थूल और प्रभावशाली दलील है कि इनमें से सच्चे सिद्धान्त का प्राप्त करना सहज नहीं है।

आर्थर होम्स (Arthor Holmas B.Sc., A.R.C.S.) नामी विद्वान् ने 'पृथिवी की आयु' (The Age of the Earth) नामी इस विषय की एक बहुत ही उत्तम पुस्तक लिखी है और 'हार्पर एण्ड ब्रदर्स' नामी लन्दन की एक कम्पनी ने छपाकर प्रकाशित की है। पुस्तक सर्वाङ्ग उत्तम है और थोड़े में इतिहास के साथ इस बात को बतला देती है कि अब तक कितने लोगों ने, कितने प्रकारों से, कब-कब, किस-किस पुस्तक के द्वारा इस विषय का क्या-क्या वर्णन किया है। पुस्तक के एकबार आद्योपान्त पढ़ने ही से मनुष्य इस विषय में अप-टु-डेट हो जाता है, किन्तु दुःख है कि परिणाम सन्तोषदायक नहीं होता—सर्वत्र वही अनैक्य और मतभेद का साम्राज्य है। इस विषय के विज्ञानवेत्ताओं ने अनेक प्रकार से पृथिवी की आयु का अनुमान लगाया है। इनमें सूर्यताप, भूताप, समुद्रक्षार, भौगर्भिक प्रकार और रेडियोएक्टिविटी के द्वारा जो आयु अनुमानित की है, वह इस प्रकार है—

१. सूर्यताप के द्वारा १८ से २० मिलियन[१] वर्ष।

२. भूताप के द्वारा २० से ६० मिलियन वर्ष।

३. समुद्र जल के द्वारा १०० मिलियन वर्ष।

४. भूगर्भ के द्वारा १०० मिलियन वर्ष।

५. रेडियोएक्टिविटि के द्वारा ३७० मिलियन वर्ष।

एक मिलियन दश लाख का होता है। ग्रन्थाकार ने उक्त समयों को विस्तार के साथ लिखा है। इन भिन्न-भिन्न समयों से तीन बातें पाई जाती हैं। १. एक रीति का निकाला हुआ समय दूसरी रीति से नहीं मिलता। २. सब समयों में अब तक सन्देह है, निर्भ्रान्त कोई नहीं है। ३. सब कमी की ओर से अधिक की ओर जा रहे हैं। ये तीनों बातें एक होकर यह अभिप्राय प्रकट करती हैं कि उक्त समय विश्वास के योग्य नहीं है। विश्वास योग्य न होने का कारण स्पष्ट है कि ये सब आपस में नहीं मिलते। इसलिए ये सभी सिद्धान्त अमान्य हैं। हमारी इस बात को ग्रन्थाकार ने भी स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि इन समस्त मतों में रेडियोएक्टिविटी और भूगर्भशास्त्र के मत कुछ विश्वास के योग्य हैं, शेष सब त्याग कर देने योग्य हैं[२]। उक्त दोनों में भी वे भूगर्भशास्त्र को ही महत्त्व देते हैं और दूसरे को अमान्य करते हैं[३]। वे भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों को कुछ अधिक विश्वस्त समझते हैं। अन्यत्र भी हम देखते हैं कि वर्त्तमान विद्वन्मण्डली भूगर्भशास्त्र पर ही भरोसा करके पृथिवी की आयु-सम्बन्धी विचार चलाती है। विकासवाद के सिद्धान्तवाले भी इसी का सहारा लेते हैं, अतः यहाँ हम थोड़े में, स्थूलरूप से, यह दिखलाना चाहते हैं कि जिस रीति से

---

१. मिलियन का अर्थ है—१० लाख। २० मिलियन का अर्थ हुआ १००००००×२०=२०००००० [दो करोड़]। ३७० मिलियन का अर्थ हुआ—१००००००×३७०=३७०००००००० [सैंतीस करोड़ वर्ष]। —**सम्पादक**

२. Of the various methods which have been devised to solve the problem of the earth's age, only two, the geological and the radioactivity, have successfully withstood the force of destructive criticism. The other arguments may be dismissed without further discussion, as in every case their cogency has been vitiated by the detection of a fundamental error. —*The Age of the Earth*, p. 166.

३. The fundamental assumptions on which the arguments are based can not both be right. One of them must be rejected. We now turn with double interest to the geological estimates. With the acceptance of a reliable time-scale, geology will have gained an invaluable key to further discovery. In every branch of the science its mission will be to unify and correlate, and with its help a fresh light will be thrown on the more facinating problems of the Earth and its Past. —*The Age of the Earth*, pp. 167, 170 and 176.

आर्थर होम्स (Arthor Holmas B.Sc., A.R.C.S.) नामी विद्वान् ने 'पृथिवी की आयु' (The Age of the Earth) नामी इस विषय की एक बहुत ही उत्तम पुस्तक लिखी है और 'हार्पर एण्ड ब्रदर्स' नामी लन्दन की एक कम्पनी ने छपाकर प्रकाशित की है। पुस्तक सर्वाङ्ग उत्तम है और थोड़े में इतिहास के साथ इस बात को बतला देती है कि अब तक कितने लोगों ने, कितने प्रकारों से, कब-कब, किस-किस पुस्तक के द्वारा इस विषय का क्या-क्या वर्णन किया है। पुस्तक के एकबार आद्योपान्त पढ़ने ही से मनुष्य इस विषय में अप-टु-डेट हो जाता है, किन्तु दुःख है कि परिणाम सन्तोषदायक नहीं होता—सर्वत्र वही अनैक्य और मतभेद का साम्राज्य है। इस विषय के विज्ञानवेत्ताओं ने अनेक प्रकार से पृथिवी की आयु का अनुमान लगाया है। इनमें सूर्यताप, भूताप, समुद्रक्षार, भौगर्भिक प्रकार और रेडियोएक्टिविटी के द्वारा जो आयु अनुमानित की है, वह इस प्रकार है—

१. सूर्यताप के द्वारा १८ से २० मिलियन[१] वर्ष।

२. भूताप के द्वारा २० से ६० मिलियन वर्ष।

३. समुद्र जल के द्वारा १०० मिलियन वर्ष।

४. भूगर्भ के द्वारा १०० मिलियन वर्ष।

५. रेडियोएक्टिविटि के द्वारा ३७० मिलियन वर्ष।

एक मिलियन दश लाख का होता है। ग्रन्थाकार ने उक्त समयों को विस्तार के साथ लिखा है। इन भिन्न-भिन्न समयों से तीन बातें पाई जाती हैं। १. एक रीति का निकाला हुआ समय दूसरी रीति से नहीं मिलता। २. सब समयों में अब तक सन्देह है, निर्भ्रान्त कोई नहीं है। ३. सब कमी की ओर से अधिक की ओर जा रहे हैं। ये तीनों बातें एक होकर यह अभिप्राय प्रकट करती हैं कि उक्त समय विश्वास के योग्य नहीं है। विश्वास योग्य न होने का कारण स्पष्ट है कि ये सब आपस में नहीं मिलते। इसलिए ये सभी सिद्धान्त अमान्य हैं। हमारी इस बात को ग्रन्थाकार ने भी स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि इन समस्त मतों में रेडियोएक्टिविटी और भूगर्भशास्त्र के मत कुछ विश्वास के योग्य हैं, शेष सब त्याग कर देने योग्य हैं[२]। उक्त दोनों में भी वे भूगर्भशास्त्र को ही महत्त्व देते हैं और दूसरे को अमान्य करते हैं[३]। वे भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों को कुछ अधिक विश्वस्त समझते हैं। अन्यत्र भी हम देखते हैं कि वर्त्तमान विद्वन्मण्डली भूगर्भशास्त्र पर ही भरोसा करके पृथिवी की आयु-सम्बन्धी विचार चलाती है। विकासवाद के सिद्धान्तवाले भी इसी का सहारा लेते हैं, अतः यहाँ हम थोड़े में, स्थूलरूप से, यह दिखलाना चाहते हैं कि जिस रीति से

---

१. मिलियन का अर्थ है—१० लाख। २० मिलियन का अर्थ हुआ १००००००×२०=२०००००० [दो करोड़]। ३७० मिलियन का अर्थ हुआ—१००००००×३७०=३७०००००० [सैंतीस करोड़ वर्ष]। —**सम्पादक**

२. Of the various methods which have been devised to solve the problem of the earth's age, only two, the geological and the radioactivity, have successfully withstood the force of destructive criticism. The other arguments may be dismissed without further discussion, as in every case their cogency has been vitiated by the detection of a fundamental error. —*The Age of the Earth*, p. 166.

३. The fundamental assumptions on which the arguments are based can not both be right. One of them must be rejected. We now turn with double interest to the geological estimates. With the acceptance of a reliable time-scale, geology will have gained an invaluable key to further discovery. In every branch of the science its mission will be to unify and correlate, and with its help a fresh light will be thrown on the more facinating problems of the Earth and its Past.
—*The Age of the Earth*, pp. 167, 170 and 176.

भूगर्भशास्त्री भूस्तरों के द्वारा पृथिवी की आयु का अनुमान करते हैं, वह नितान्त भ्रामक है।

पृथिवी का एक परत कितने दिन में बनता है, यह जानना तो बड़ी दूर की बात है, परन्तु एक परत कहते किसे हैं यह जानना भी बड़ा कठिन है। सभी जानते हैं कि वर्षा के कारण पृथिवी में एक स्तर प्रतिवर्ष पड़ जाता है। वह कितना पतला होता है और स्थान-स्थान में उसके कितने भेद हो जाते हैं यह भी सब जानते हैं, किन्तु कई वर्ष के बाद जब हम कोई कुवाँ खोदने लगते हैं तो हमें रेत, कंकड़, काली मिट्टी और सफ़ेद मिट्टी आदि के अनेक पर्त दिखते हैं, जो एक फुट, दो फुट, चार फुट आदि के मोटे होते हैं, परन्तु उन पतले स्तरों का कहीं नाम-निशान भी देखने को नहीं मिलता जो प्रतिवर्ष बनते हैं। वे बारीक स्तर कहाँ गये? इसका यही उत्तर है कि पृथिवी के दबाव से कई वर्ष के बाद ये पतले-पतले स्तर एक हो गये। इसी प्रकार पृथिवी के अत्यन्त नीचेवाले चट्टान जिनको Metamorphic Rocks कहते हैं, वे भी दबाव और उष्णता के कारण पिघलकर एक हो गये हैं।

ऊपर जो अंग्रेजी का शब्द दिया गया है उसका अर्थ ही यह होता है कि वे रूपान्तरित हो गये हैं। ये दोनों उदाहरण हमारे सामने हैं। एक को हम प्रतिवर्ष देखते हैं और दूसरे को विद्वानों ने समझ-बूझकर लिखा है। दोनों यह बतलाते हैं कि पृथिवी के स्तर ज्यों-के-त्यों नहीं रहते। उनके रूपों में अन्तर पड़ जाता है। अब देखना चाहिए कि रूपों का भी कोई सिद्धान्त है या नहीं। एक ही गाँव में एक कुवाँ खारा है और दूसरा मीठा है। एक में तह बालू की है तो दूसरे में उतनी ही गहराई पर लाल मिट्टी की। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि सब स्तर समान स्तर पर हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सबकी मोटाई समान है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सबमें एक ही वस्तु विद्यमान है। ऐसी दशा में यह अनुमान कभी नहीं किया जा सकता कि जो स्तर यहाँ इतने दिन में हो पाया होगा वही दूसरी जगह भी उतने ही दिनों में हो सका होगा। बर्फ़ की तहों की जाँच से विद्वानों ने निश्चय किया है कि बर्फ़ संसार में सर्वत्र एक ही समय में नहीं पड़ा। यह एक दूसरी अड़चन है जो उस पहली कठिनाई को दूना कर देती है। अतएव जहाँ वार्षिक स्तरों का पता न हो, जहाँ पुराने-से-पुराने मोटे स्तरों का भी पता न हो और जहाँ एक प्रकार की समानता भी न हो वहाँ थोड़-से स्थानों की जाँच से सारी पृथिवी की आयु का अनुमान करना कितना कठिन है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। पतले तहों का मोटे तहों में लीन हो जाना और प्रत्येक स्थान की असमानता—ये दोनों ऐसी बातें हैं, जिनके कारण कभी भी भूगर्भशास्त्र का निकाला हुआ समय सत्य नहीं हो सकता। यही कारण है कि 'पृथिवी की आयु' नामी पुस्तक का लेखक, भूगर्भशास्त्र के सिद्धान्तों को मानता हुआ भी कहता है कि भूगर्भशास्त्र की मर्यादा भी निश्चयात्मक नहीं है[१]। चलो छुट्टी हुई, जिसपर इतना भरोसा था, वह भी अनिश्चित निकला। इस प्रकार वैज्ञानिक समय भी सन्तोषकारक न ठहरा।

पृथिवी की उत्पत्ति का तो यह हाल है अब तनिक मनुष्योत्पत्तिकाल को भी देखिए। मनुष्योत्पत्तिकाल में इससे भी अधिक मतों और अनैक्यताओं की भरमार है। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ़ दि वर्ल्ड' के योग्य सम्पादकों ने मनुष्य के उत्पत्तिकाल को एक लाख वर्ष का माना है। विकासवाद में कई विद्वानों के मत से आठ लाख वर्ष माने गये हैं। अभी हाल में एक जूता मिला

१. The geological period is difficult to establish with certainty. —*The Age of the Earth*, p. 159.

है, जिसको देखकर वैज्ञानिक लोग मनुष्योत्पत्ति काल को ६० लाख वर्ष से भी पूर्व का मानते हैं। ऐसी दशा में ऐसे मतानैक्य के कारण वैज्ञानिकों का निकाला हुआ मनुष्योत्पत्तिकाल भी सन्तोषकारक नहीं हो सकता, इसलिए आगे हम वैदिक आर्यों के मत से देखना चाहते हैं कि मनुष्योत्पत्ति का ठीक-ठीक काल कितना है।

वैदिक मनुष्योत्पत्ति काल

जिस प्रकार बाइबल मनुष्योत्पत्तिकाल बताने में असमर्थ है, उसी प्रकार पाश्चात्य वैज्ञानिक भी पृथिवी की आयु और मनुष्योत्पत्तिकाल निकालने में हताश हो रहे हैं। मनुष्योत्पत्तिकाल और पृथिवी की सच्ची आयु कल्पना के आधार से निकल ही नहीं सकती। इनका सच्चा हिसाब कल्पना से नहीं प्रत्युत आर्यों के सृष्टिसंवत् से ही ज्ञात होता है, उसकी परवाह तिलक महोदय, श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य और श्रीमान् मिश्रबन्धुओं ने नहीं की। उन्होंने इस सच्चे सिद्धान्त को छोड़कर विदेशियों की कल्पना का ही सहारा लिया है, इसीलिए उनके सिद्धान्त निर्भ्रान्त नहीं ठहरते। बिना सृष्टिसंवत् की गणना का सहारा लिए मनुष्योत्पत्तिकाल निश्चित ही नहीं हो सकता, इसलिए यहाँ हम पहले सृष्टि-उत्पत्तिकाल देकर तब मनुष्योत्पत्ति काल का वर्णन करेंगे।

कोई आदमी यदि किसी की आयु जानना चाहे तो उसे चाहिए कि वह उसके जन्मपत्र को देख ले और उसपर विश्वास करे। उसे यह उचित नहीं है कि वह जिसकी आयु जानना चाहता है, उसके जन्मपत्र की परवाह न करे, किन्तु उसके दाँत-आँख डॉक्टर को दिखला कर उसकी अवस्था निश्चित करे। हाँ, यदि कुण्डली न हो तो वैसा करना अनुचित नहीं है। जिन देशों के पास पृथिवी और मनुष्योत्पत्ति का जन्मपत्र नहीं है, वे भले ही डॉक्टरों से उसकी आयु का अनुमान करावें, परन्तु हमारे देश में तो सृष्टि-उत्पत्ति, पृथिवी-उत्पत्ति और मनुष्योत्पत्ति का जन्मपत्र और रोज़नामचा बना-बनाया रक्खा है, अतः हमें तनिक भी आवश्यक नहीं है कि हम उसको हटाकर डॉक्टर की कल्पना पर विश्वास करें।

आगे हम आर्यों के वैदिक संवत् की पड़ताल करते हैं और देखते हैं कि उससे मनुष्योत्पत्ति काल कब निश्चित होता है। आर्यों का यह वैदिक संवत् हिन्दुओं, पारसियों, स्कण्डेनेवियनों और बेबिलोनियावालों में एक समान ही पाया जाता है और हिन्दुओं के दैनिक सङ्कल्प में प्रतिदिन पढ़ा जाता है। संकल्प का सारांश इस प्रकार है—**'द्वितीयपरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशति-कलौ युगे ५,०३० गताब्दे'**, अर्थात् यह वैवस्तमनु का अट्ठाइसवाँ कलि है, जिसके ५०३० वर्ष बीत चुके हैं। ब्रंह्मा के एक दिन को कल्प अथवा सृष्टि समय कहते हैं। यह कल्प १४ मन्वन्तरों अथवा एक सहस्र चतुर्युगियों का होता है। अब तक छह मन्वतन्तर बीत चुके हैं। एक मन्वन्तर लगभग ७१ चतुर्युगियों का होता है। वैवस्वतमनु की २७ चतुर्युगी बीत चुकी हैं। अट्ठाइसवीं में भी (कृत, त्रेता और द्वापर) तीन युग बीत चुके हैं। चौथे कलि के भी ५०३० वर्ष बीत चुके हैं। गणित करके देखा गया है कि इस गणना के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति को अब तक १,९७,२९,४०,०३० वर्ष बीत चुके हैं।

पारसियों के विश्वासानुसार संसार की स्थिति का समस्तकाल १२,००० वर्ष है[१]।

---

१. The Persian Sages, led by Zoroaster believed that the total duration of the world's existence was limited to 12,000 years.
—*The Age of the Earth*, p. 3.

हमारे शास्त्रों में लिखा है कि हमारी एक चतुर्युगी देवताओं के १२ हज़ार वर्षों की होती है, क्योंकि तैत्तिरीयब्राह्मण ३।९।२२ में ही लिखा हुआ है कि **'एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः'**, अर्थात् जो संवत्सर है वह देवतों का एक दिन है। पारसियों के यहाँ भी वही लिखा है कि **'तएच अयर मइन्यएन्ते यतयरे'**, अर्थात् जो देवतों का दिन है वह हमारा एक वर्ष है। इस ज़न्दभाषा के वाक्य का संस्कृतवाक्य—**'ते च अहरं मन्यन्ते यद्वर्षम्'** बनता है, अत: देवों का एक वर्ष हमारे ३६० वर्षों के बराबर और १२,००० देववर्ष हमारे ४३,२०,००० वर्षों के बराबर होते हैं। यह संख्या एक महायुग, अर्थात् एक चतुर्युगी की है। इसी पर तीन शून्य और रखने से एक सृष्टि काल हो जाता है। इसी प्रकार उपर्युक्त पारसियों के १२००० देववर्षों पर भी केवल तीन शून्य रखने से सृष्टि समय निकलता है।

बेबिलोनियावालों के यहाँ भी यही गिनती चालू है। इस विषय में Origin of the Week, अर्थात् 'सप्ताह की मौलिकता' शीर्षक एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख महाशय शामशास्त्री ने Annals of the Bhandarkar Institute Vol. IV, Part 1, July 1922 में लिखा है। आप लिखते हैं कि 'हमारे सूर्यसिद्धान्त में जिस प्रकार दश स्वर का एक श्वास, छह श्वास की एक विनाड़ी, साठ विनाड़ी की एक नाड़ी और साठ नाड़ी का एक दिन लिखा है उसी प्रकार बेबिलोनियन लोगों में भी सास, सर और नेर की गिनती है। यह सास, सर और नेर, श्वास, स्वर और नाड़ी का ही बिगड़ा हुआ रूप है। राबर्ट ब्राउन कहते हैं कि 'बेबिलोनियावालों का विश्वास है कि उनके दश राजाओं ने १२० सर राज्य किया। बेरोसस (Berosos) के मतानुसार एक सास ६० वर्ष की और एक सर ३६०० वर्ष का होता है। ३६०० को १२० से गुणा करने पर ४,३२,००० होते हैं। यह कलियुग की वर्षसंख्या है[१]।'

बेबिलोनियावालों के अनुसार और स्केण्डेनेवियावालों के यड्डा[२] के अनुसार कलियुग की गिनती का तथा पारसियों के अनुसार चतुर्युगी की गिनती का प्रमाण मिलता है, इसलिए सिद्ध है कि आर्यों की युगगणना और कल्पसंख्या ऐतिहासिक है और सत्य सिद्धान्त पर रची गई है।

---

१. According to the Suryasiddhanta (1.11.12) ten long syllables or Savaras=one respiration or Swasa, six Swasas or respiration=one Vinadi, sixty Vinadis=one Nadi, sixty Nadis=one day, that is, the time taken to pronounce 10×6×60×60=2,16,000 syllables is equivalent to a day of 24 hours.

The Babylonion figures like those of the Hindus are 6 and 10 and the multiples of 6 and 10 and their squares, and the terms employed by the babylonion to name them are Sar (3600), Soss (60), and Nar (600), which seem to be identical with Hindu terms, Swara, Swass, and Nadi.

Robert Brown says—This stellar and originally solar Ram stands at the head of the 10 antediluvian Babylonion kings whose reigns divide the circle of the ecliptic and who are said to have reigned 120 Sars (4,32,000 years). In Akkad 60 was the unit and according to Berosos, the time-periods were a Soss (60 years), Nar (60×10=600), and a Sar (600×60=3,600); 3,600×120=4,32,000.

२. According to the Edda, Walhall has 540 gates, if this number be multiplied by 800, the number of Einheriers who can march out abrest from each gate, the product will be 4,32,000, which forms the very elementry number for the so frequently-named ages of the world or Yugas, adopted both in the doctrine of Brahma and Buddha, of which the one now in course will extend to 4,32,000, years, the three preceding ones corresponding to the number multipiled by 2, 3, and 4.

Five hundred and forty doors, I believe to be in Walhall. Eight hundred Einheriers can go out abreast when they are to fight against the Ulfven (the wolf). Here is meant the fatal encounter with Fenris Ulfven at the end of the world, when Odin, at the head of 432,000 armed Einheriers takes the field against them. —*Theogony of the Hindus*, pp. 107 and 108.

युगों का समय शतपथब्राह्मण १०।४।२।२२-२५ में बड़ी विचित्रता से बतलाया गया है। वहाँ अग्निचयन प्रकरण में लिखा है कि ऋग्वेद के अक्षरों से प्रजापति ने १२,००० बृहती छन्द (प्रत्येक ३६ अक्षर का) बनाये, अर्थात् ऋग्वेद के कुल अक्षर ४,३२,००० हुए। इसी प्रकार यजुर्वेद के ८,००० और साम के ४,००० मिलकर कुल १२,००० के भी वही ४,३२,००० अक्षर हुए। इनके जब पंक्ति छन्द (४० अक्षर का) बनाते हैं तो १,०८,००० छन्द होते हैं। उतने ही यजुः और साम के भी होते हैं। एक वर्ष के ३६० दिन और एक दिन के ३० मुहूर्त्त होने से वर्ष के १०८०० मुहूर्त्त हुए। यहाँ मुहूर्त्त से लेकर वर्ष, युग और चतुर्युगी आदि की सभी संख्याएँ बतला दी गई हैं। ऊपर हम बतला आये हैं कि आर्यों में ही नहीं प्रत्युत पारसी, स्केण्डेनेविया और बेबिलोनिया के लोगों तक में कलि की और चतुर्युगी की संख्या विद्यमान है। तैत्तिरीय में एक दिन का एक वर्ष लिखा हुआ है और शतपथ का वर्णन वेदों के अक्षरों द्वारा मुहूर्त्त से लेकर चतुर्युगी तक की गिनती बतला रहा है। ऐसी स्थिति में कैसे कहा जा सकता है कि युगों की लम्बी-लम्बी संख्याएँ पौराणिक गपोड़े हैं। स्वयं वेद में ही लिखा है—

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र॥

—अथर्व० १०।७।९

अर्थात् भूत, भविष्यमय कालरूपी घर एक सहस्र खम्भों पर खड़ा किया गया है। इन खम्भों के अलंकार से एक कल्प में होनेवाली एक सहस्र चतुर्युगियों का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद ८।२।२१ में एक कल्प के वर्षों की संख्या इस प्रकार बतलाई गई है—'**शतं ते अयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृणमः**', अर्थात् सौ अयुत वर्षों के आगे दो, तीन और चार की संख्या लिखने से कल्पकाल निकल आवेगा। अयुत दश हज़ार का होता है। इसलिए सौ अयुत, दश लक्ष हुए। दश लक्ष के सात शून्य लिखकर उनके पहले दो तीन चार लिखने से ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। यह संख्या एक हज़ार चतुर्युगियों की है। इसी को एक ब्राह्मदिन या एक कल्प की संख्या कहते हैं। यजुर्वेद ३०।१८ में चारों युगों के नाम इस प्रकार हैं—'**कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधि कल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुम्।**' इसका अर्थ तैत्तिरीय ४।३।१ में इस प्रकार है—'**कृताय सभाविनं त्रेताया आदिनवदर्शं द्वापराय बहिस्सदं कलये सभास्थाणुम्**'।

यहाँ तक हमने यह दिखलाया कि चारों युगों और उनके दीर्घ समय का वर्णन वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि प्राचीन आर्षग्रन्थों में वर्णित है और ईरान, स्केण्डेनेविया और बेबिलोनिया आदि विदेशियों के यहाँ भी पाया जाता है, इसलिए यह लम्बी संख्या मनगढ़न्त नहीं है—पौराणिक नहीं है। आगे हम यह दिखलाने का यत्न करते हैं कि यह संख्या ज्योतिष् के सिद्धान्तों पर स्थिर है। हमने अब तक आर्य ज्योतिषग्रन्थों से जितने प्रमाण प्राप्त किये हैं, उन्हें यहाँ लिखते हैं और आशा करते हैं कि विद्वान् इस विषय पर अधिक विचार करने की कृपा करेंगे।

ज्योतिष् द्वारा युगों की गणना

युगों का आरम्भ ग्रहों के तारतम्य से होता है। 'आर्यों के ज्योतिश्शास्त्र का इतिहास' नामी पुस्तक के पृष्ठ १८० पर ज्योतिश्शास्त्र के अद्वितीय पण्डित शंकर बालकृष्ण दीक्षित लिखते हैं कि 'सूर्यसिद्धान्त और प्रथम आर्यभट्ट के मत से' वर्त्तमान कलि के आरम्भ में सूर्यादि सातों ग्रह एक ही स्थान में थे, अर्थात् उनका मध्यम भोग था। ब्रह्मगुप्त और दूसरे आर्यभट्ट के मत से सातों ग्रह कल्पारम्भ में एकत्र थे। तिलक महोदय अपने 'उत्तरध्रुव निवास' नामी ग्रन्थ में कहते हैं कि

'हमारे ज्योतिश्शास्त्रियों के मतानुसार कल्प के आरम्भ में, सूर्यादि समस्त ग्रह युति में थे। सम्भव है कि उन्होंने विपरीत गणित करके ग्रहों की सूर्यप्रदक्षिणा के हिसाब से समस्त ग्रहों का एक सीध, अर्थात् युति में आना निश्चित किया हो'। इन दोनों विद्वानों के लेखों से प्रतीत होता है कि युगों के आरम्भ के समय समस्त ग्रह एक सीध में आ जाते हैं, परन्तु किसी ने सृष्टि के आदि में और किसी ने कलियुग के आदि में समस्त ग्रहों का जो युति में होना बतलाया है उससे यह न समझ लेना चाहिए कि विद्वानों ने परस्पर विरोध पैदा कर दिया है, किन्तु यह समझना चाहिए कि चार कलियुगों की सम्मिलित संख्या का ही नाम सत्ययुग है, क्योंकि दो कलियुगों से द्वापर, तीन कलियुगों से त्रेता और चार कलियुगों से कृत या सत्ययुग होता है। कल्प सत्ययुग से ही आरम्भ होता है, अत: समझना चाहिए कि वह भी कलियुग से ही आरम्भ होता है, क्योंकि कलि के दश बार बीतने का ही नाम महायुग है[१]। इसी को चतुर्युगी कहा गया है। सिद्धान्त यह है कि प्रति कलियुग के आरम्भ में अथवा प्रति सृष्टि के आरम्भ में सातों ग्रह युति में होते हैं। सूर्यसिद्धान्त में लिखा है—

अस्मिन् कृतयुगस्यान्ते सर्वे मध्यगता ग्रहाः। विना तु पादमन्दोच्चान्मेषादौ तुल्यतामिताः॥

—सूर्य० १।५७

सत्ययुग के अन्त, अर्थात् त्रेता के आदि में पात और मन्दोच्च को छोड़कर सब ग्रहों का मध्य स्थान मेषराशि में था।

यहाँ त्रेतायुग के आरम्भ में भी वही स्थिति बतलाई गई है। इसका भी अभिप्राय यही है कि उस समय कलि के पाँचवें चक्कर पर उक्त स्थिति विद्यमान थी। यहाँ यह बात एक प्रकार से निश्चित हो गई कि कलि के आदि में सब ग्रह एक ही युति में थे, किन्तु विचार यह करना है कि क्या कभी यह बात जाँची गई? क्या कभी किसी ज्योतिषी ने गणित करके इस विषय को स्पष्ट किया? इसका उत्तर बड़े गर्व से दिया जा सकता है कि यूरोप का प्रसिद्ध ज्योतिषी बेली (Bailly), जिसने गणित करके उक्त घटना की जाँच की है, लिखता है कि 'कलियुग का आरम्भ ईस्वी सन् से ३१०२ वर्ष पूर्व २० फ़रवरी को २ बजकर २७ मिनट ३० सेकेण्ड पर हुआ था। उस समय समस्त ग्रह एक ही स्थान में थे'[२]।

कितना शुद्ध, स्पष्ट और जाँचा हुआ सिद्धान्त है। इसी प्रकार सन् १८९९ ई० में जिस साल कलि को बीते पूरे ५००० वर्ष व्यतीत हो रहे थे, भारत के बड़े-बड़े पण्डितों ने भी ज्योतिष के सिद्धान्तानुसार घोषणा की थी कि कलियुग का आरम्भ सप्त ग्रहों के एकत्र होने पर ही हुआ था। इस सिद्धान्त के सिवा ज्योतिष्-सम्बन्धी एक दूसरा भी विचार है, जिसके अनुसार युगों की कल्पना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सूर्यसिद्धान्त ३।६ में लिखा है कि **'त्रिंशत् कृत्यो युगे भानां चक्रं प्राक्परिलम्बते'**, अर्थात् एक महायुग में भचक्र (राशिचक्र) पूर्व और पश्चिम दिशा में तीन-तीन सौ बार अथवा ६०० बार चलता है, अर्थात् राशिचक्र से पूर्व की ओर भी २७ अंश

---

१. **दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमे युगे।** —ऋ० १।१५८।६

२. According to the astronomical calculation of the Hindus, the present period of the world, Kaliyuga, commenced 3,102 years before the birth of Chirst on the 20th February at 2 hours, 27 minutes and 30 seconds, the time being thus calculated to minutes and seconds. They say that a conjunction of planets then took place, and their table show this conjunction. It was natural to say that a conjunction of the planets then took place. The calculation of the Brahmins is so exactly confirmed by our own astronomical tables that nothing but actual observation could have given so correspondent a result. —*Theogony of the Hindu* by Count Bjornstjerna, p. 32.

चलकर फिर विषुवत् रेखा पर आता है और उस स्थान से पूर्व की ओर भी २७ अंश तक जाकर अपने स्थान में लौट आता है। इस प्रकार एक ओर जाने में ३०० बार और दूसरी ओर जाने में ३०० बार, अर्थात् कुल ६०० बार एक महायुग में चलता है, इसलिए एक कल्प में ये चक्कर छह लाख बार होते हैं। इस हिसाब को महायुग में न लगाकर कलियुग में लगाकर देखिए। महायुग का १०वाँ भाग कलि है, अतः कलि अपनी आयु में ३० बार एक ओर और ३० बार दूसरी ओर, अर्थात् कुल ६० बार जाता है। इन तीस बारों को यदि कलि का एक मास मान लें तो एक बार का अर्थ एक दिन होगा, अर्थात् कलि की एक ओर की यात्रा को एक दिन और तीस बार की यात्रा को एक महीना मानना चाहिए। इस प्रकार वह अपने दो मास, अर्थात् एक ऋतु को ६० बार में समाप्त करता है और ऐसी १० ऋतुओं में, अर्थात् ६०० बार में एक महायुग बीत जाता है। इन १० ऋतुओं का एक वर्ष मानें तो ६,००,००० बार का एक कल्प या एक हज़ार वर्ष होंगे। इन्हीं एक हज़ार वर्षों की आयु नाग, गन्धर्व, किन्नर आदि सृष्टि के पदार्थों की लिखी हुई है। ये ज्योतिष् की प्रबल गणनाएँ हैं, जो युगों को ज्योतिष् के सिद्धान्तानुसार बतलाती हैं।

एक तीसरा प्रमाण सूर्यसिद्धान्त अध्याय १ का यह भी है कि **'युगे सूर्यज्ञशुक्राणां खचतुष्करदार्णवः। कुजार्किगुरुशीघ्राणां भगणाः पूर्वयाविनाम्'**, अर्थात् एक चतुर्युग में सूर्य, बुद्ध, शुक्र, मङ्गल, शनि और बृहस्पति ४३,२०,००० भगण करते हैं। यही संख्या चतुर्युगी की भी है। इस प्रकार से भी युग, ज्योतिष्मूलक ही सिद्ध होते हैं।

परन्तु सातों ग्रहों के एक सीध में आने के विषय में चिन्तामणि विनायक वैद्य एम०ए० अपने 'महाभारत मीमांसा' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि 'युगों के आरम्भ होने की ज्योतिष्-सम्बन्धी ऐसी स्थिति किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं है, यहाँ तक कि सातों ग्रहों का एक सीध में आना पुराणों तक में भी नहीं लिखा, इसलिए प्रश्न होता है कि इन बहुत ही नवीन ज्योतिष् के ग्रन्थों में यह बात कहाँ से आई'? ये ज्योतिष् के ग्रन्थ भले नवीन हों, परन्तु इनमें वर्णित ज्योतिष्-सम्बन्धी विषय नवीन नहीं हैं। इन विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन सूत्रग्रन्थों, ब्राह्मणों और वेदों के भिन्न-भिन्न स्थानों को एकत्र करने से मिल सकता है। इसके सिवा जिस सूर्यसिद्धान्त में यह सब वर्णित है वह भले नवीन हो, क्योंकि अलबरूनी ने इसे लाटकृत कहा है, तो भी दीक्षित कहते हैं कि इसके पहले भी सूर्यसिद्धान्त विद्यमान था। वेदाङ्गज्योतिष् बहुत ही पुराना ग्रन्थ विद्यमान है। उसमें बहुत ही पुरानी घटनाओं का वर्णन है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यह बात नवीन है। क्या प्रमाण है कि यह बात पुराने सूर्यसिद्धान्त में नहीं थी? रहा पुराण आदि में न होना, वह कोई विशेष बात नहीं है, क्योंकि इन बातों का वर्णन ज्योतिष् के ही ग्रन्थों में होना चाहिए। पुराणों में तो ये बातें कभी-कभार ही आती हैं, जैसे महाभारत में यही बात आ गई है। वहाँ लिखा है—

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पतिः। एकराशौ समेष्यन्ति प्रवर्त्स्यति तदाकृतम्।

—महाभारत[1]

अर्थात् जब सूर्य, चन्द्र, तिष्य और बृहस्पति एक राशि में आ जाते हैं तब कृतयुग लगता है।

इस प्रकार महाभारत ने एक प्रकार से कह दिया कि कृतयुग के आरम्भ के समय सब ग्रह एक राशि में थे। यह वर्णन कृतयुग के आरम्भ का है, इसलिए सम्भव है कि उस समय चार ही

१. महा०वन० १९०।९०-९१

ग्रह एक राशि में हों और अन्य तीन ग्रह तनिक दूर रहे हों, परन्तु कलि के आरम्भ में तो सातों ग्रह एकत्र हो ही जाते हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत कोई ज्योतिष् का ग्रन्थ नहीं है, जिसमें बिलकुल ही सँभालके सातों ग्रहों की बात कही जाए। कहने का तात्पर्य यह कि महाभारत वनपर्व में वह बात लिखी है, जिसके लिए वैद्य महोदय कहते हैं कि पुराणों में भी नहीं है। इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त हमें एक बात वाल्मीकि रामायण में मिली है, जिससे हमें अनुमान करने का पूरा अवसर मिलता है कि युगों और नक्षत्रों के सम्बन्ध का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में है।

हम पहले लिख आये हैं कि तैत्तिरीय में '**कलये सभास्थाणुम्**' लिखा है। वही यजुः० ३०।१८ में '**आस्कन्दाय सभास्थाणुम्**' कहा गया है। दोनों वाक्यों से सूचित होता है कि कलि को आस्कन्द कहते हैं। स्कन्द कहते हैं स्वामिकार्तिक को और आ कहते हैं अच्छे प्रकार को। दोनों का अर्थ हुआ कि जो अच्छे प्रकार से कार्तिकेय हो, वह आस्कन्द है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग ३७ में स्कन्द, अर्थात् कार्तिकेय की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है कि 'इस आकाशगङ्गा में अग्निदेव एक पुत्र उत्पन्न करेंगे जो तुम्हारा (देवों का) सेनापति होगा। गङ्गा ने स्त्री का रूप धारण किया और अग्नि ने उसमें वीर्य स्थापित किया। गङ्गा ने कहा कि हम तुम्हारे इस तेज को धारण नहीं कर सकतीं। तब अग्नि ने कहा कि इस गर्भ को हिमालय के समीप छोड़ दो। वह गर्भ पुत्र था। उसको दूध पिलानेवाली कोई स्त्री न थी, अतः इन्द्र ने दूध पिलाने के लिए कृत्तिकाओं को नियुक्त किया। सब कृत्तिकाओं ने उस बालक को दूध पिलाया और स्नान कराया जिससे उसका शरीर अग्नि के समान झलकने लगा। '**स्कन्द इत्यब्रुवन्देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्त्रवे**'[१], अर्थात् गर्भस्त्राव होने से उस लड़के का नान स्कन्द हुआ। इसी प्रकार कृत्तिकाओं ने दूध पिलाया इसलिए उसका नाम कार्तिकेय हुआ। कृत्तिका नक्षत्र में छह तारे हैं। इन छह का दूध पीने से उसका नाम षडानन हुआ। वह एक ही दिन में दूध पीकर कुमार हो गया और शत्रु-सैन्य को पराजित कर दिया। तब अत्रि (सूर्य) आदि देवताओं ने उसको देवों का सेनापति बनाया[२]'। इस कथा से हम अपने विषय से सम्बन्ध रखनेवाली नीचे की बातें चुने लेते हैं।

१. आकाश गङ्गा में अग्नि ने गर्भ स्थापित किया।

२. हिमालय के पार्श्व में गर्भस्त्राव से पुत्र हुआ जो अग्नि के समान चमकता था।

३. उसको छह कृत्तिकाओं ने दूध पिलाया।

४. कृत्तिकाओं के दूध पिलाने से कार्तिकेय, छह कृत्तिकाओं का दूध पीने के कारण षडानन और गर्भ के स्कन् (स्खलन) से स्कन्द नाम हुआ।

५. एक ही दिन में दूध पीकर वह शत्रु-सेना को पराजित कर सका।

---

१. वा० रा० बाल० ३७।२७

२. **इयमाकाशगङ्गा च यस्यां पुत्रं हुताशनः। जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिन्दमम्॥ ७॥
इह हैमवते पार्श्वे गर्भोऽयं संनिवेश्यताम्। श्रुत्वा चाग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम्॥ १७॥
तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सह मरुद्गणाः। क्षीरसंभावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयत्॥ २३॥
ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम्। ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः॥ २४॥
ततस्तु देवताः सर्वाः कार्तिकेय इति ब्रुवन्। पुत्रस्त्रैलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः॥ २५॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा स्कन्नं गर्भपरिस्त्रवे। स्नापयन्परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथानलम्॥ २६॥
स्कन्द इत्यब्रुवन्देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्त्रवेः। कार्तिकेयं महाबाहुं काकुत्स्थ ज्वलनोपमम्॥ २७॥
प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानाममुत्तमम्। षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः॥ २८॥**

यह उस समय की घटना है जब सूर्योदय के पूर्व आकाशगङ्गा क्षितिज के नीचे थी और सूर्योदय के पश्चात् ही उदय होने लगती थी। हिमालय में बैठे हुए लोगों ने इसे हिमालय के पार्श्व में देखा था। उस समय कृत्तिकाएँ भी वहीं विद्यमान थीं। जिस समय सूर्य कृत्तिका के साथ उदय होता था उस समय वसन्तसम्पात कृत्तिका में ही हुआ था। उपर्युक्त वर्णन उस समय के तनिक पहले का है, अर्थात् सूर्य जब स्पष्ट नहीं, किन्तु गर्भ में था, तब का है। अब हम देखना चाहते हैं कि यह समय कब था। यह समय निकालने में हमें अधिक कठिनाई न होगी, क्योंकि इस विषय का झगड़ा स्वनामधन्य दीक्षित महोदय के ही समय में तय हो चुका है। उन्होंने एक घटना शतपथब्राह्मण के इस वाक्य से निकाली है—

कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।
सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।

इसका अर्थ है—कृत्तिका पूर्व दिशा से च्युत नहीं होती और सब ग्रह च्युत हो जाते हैं, इसलिए उसी में अग्न्याधान करना चाहिए। यह उस समय का वर्णन है जब कृत्तिका विषुववृत पर थी। इस समय कृत्तिका विषुववृत के ऊपर उत्तर की ओर है। दीक्षित ने सन् १९०० में देखा तो कृत्तिका ६८ अंश हटी हुई दिखी। ज्योतिष् का सिद्धान्त है कि ७२ वर्ष में सम्पात एक अंश पीछे हट जाता है, अतः उक्त घटना को हुए आज तक (६८×७२=) ४८९६ वर्ष होते हैं। यह गणना सन् १९०० की है। इसमें १९०० के बाद से आज तक के २९ वर्ष और जोड़ने से कुल ४९२५ वर्ष होते हैं। कलियुग के ५०३० वर्ष बीत चुके हैं, अतः यह घटना कलियुग आरम्भ होने के १०५ वर्ष बाद की है[1], परन्तु यह घटना जब गर्भ में थी उस समय को तो ५०३० वर्ष होने में कोई सन्देह ही नहीं है। यह स्कन्द कृत्तिका में ही जन्मा, परन्तु इसका गर्भारम्भ थोड़े दिन पहले ही हो गया था, इसीलिए कृत्तिका के समय के पूर्व ही स्खलन होने के कारण इसको स्कन्द कहा गया और उसी सीमा के दोनों छोरों तक अधिकार रखने के कारण ही कलियुग को 'आस्कन्द' कहा गया है। 'आ' का अर्थ 'समन्तात्', 'अच्छी प्रकार', 'छोरतक'—जैसे 'आसमुद्रात्' 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्' इत्यादि। जो स्कन्द (कार्तिकेय) पैदा होने की पूर्व सीमा (गर्भावस्था) तक अपना अधिकार और स्थिति बतलावे उसे आस्कन्द कहते हैं। इस विवरण से हम कह सकते हैं कि कलियुग सदैव इसी घटना के आस-पास आरम्भ होता है, इसीलिए उसको आस्कन्द कहा गया है। स्कन्देनेविया का नाम भी इसी से पड़ा है, क्योंकि उनके यहाँ यह स्कन्द युद्धदेव माना जाता है[2]। कार्तिकेय सम्बन्धी यह कल्पना बिलकुल नई है। इसका उत्तरदायित्व लेखक पर ही है। ज्योतिष् और वैदिक भाषा के विद्वान् इसपर अधिक प्रकाश डालें तो सम्भव है कि इसकी सत्यता का निर्णय हो जाए।

हमने यहाँ तक दिखलाने का प्रयत्न किया कि युगों की लम्बी-लम्बी अवधि कल्पित नहीं है, किन्तु उनकी व्यवस्था ज्योतिष् के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है और ये सिद्धान्त ज्योतिष्-ग्रन्थों तक ही परिमित नहीं है, अपितु महाभारत और वाल्मीकि रामायण तक जाते हैं, अतएव युगों के द्वारा ठहराया हुआ सृष्टिसंवत् आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से कहीं अधिक विश्वस्त है

१. दीक्षित महोदय शतपथ की घटना स्पष्ट होने लगी तब से गिनते है, परन्तु वाल्मीकि रामायण में घटना के आरम्भकाल का वर्णन है। घटना के आरम्भ और स्पष्ट होने के मध्य में युग की स्थिति है, अतः दीक्षित की स्थिति से इस स्थिति में जाने के लिए १०५ वर्ष और चाहिएँ। इसी को ५०३० वर्ष मानकर कलि आरम्भ का समय समझना चाहिए।

२. Skand, the God of war, reigns there (Scandinavia). —Theogony of the Hindus, p. 109.

और ऐतिहासिक है। हम इसमें प्रतिदिन एक दिन बढ़ाते जाते हैं, इसलिए यह रोज़नामचा की भाँति सत्य और सृष्टि की आयु तथा मनुष्यजन्म की तिथि नियत करने का एकमात्र साधन है। इसी साधन से हम कह सकते हैं कि सृष्टि उत्पन्न हुए छह मन्वन्तर, सत्ताईस चतुर्युगी, तीन युग और ५०३० वर्ष बीत चुके हैं, अर्थात् कुछ कम दो अरब वर्ष आज तक व्यतीत हो चुके हैं।

अब प्रश्न यह है कि पृथिवी कब बनी और मनुष्यसृष्टि कब हुई। सृष्टि की वर्षसंख्या कुछ कम दो अरब है, परन्तु यह समय मनुष्यों की उत्पत्ति का नहीं है। यह समय सृष्टि की उत्पत्ति के आरम्भ से आज तक का है। सृष्टि-उत्पत्ति तब से मानी जाती है जब से सृष्टि का बनना आरम्भ हुआ। यह वह समय है जब प्रलय का समय पूरा होकर सृष्टि का बनना आरम्भ होता है, अर्थात् मुक्त प्रकृति का परस्पर सङ्घात आरम्भ होता है और परमाणु से द्व्यणुक आदि बनने आरम्भ होते हैं। इस समय से लेकर सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि बनने तक के समय को स्वायम्भुव मनु कहते हैं। स्वायम्भुव मनु के समय में उत्पन्न उत्तानपाद ध्रुव आदि नक्षत्र आकाश में विद्यमान हैं। जिस प्रकार स्वायम्भुव मनु के समय नाक्षत्रिक जगत् तैयार हुआ, उसी प्रकार दूसरे स्वरोचिष मनु के समय में पृथिवी तैयार हुई। तीसरे मनु के समय में पृथिवी से चन्द्रमा पृथक् हुआ। चौथे मनु में समुद्र से भूमि निकली, पाँचवे में वनस्पति हुई, छठे में पशु और सातवें वैवस्वतमनु में मनुष्यों का जन्म हुआ। इसका हिसाब इस प्रकार है—

सत्ताइस चतुर्युगीयों के	११,६६,४०,००० वर्ष
सत्ययुग[1] के	१७,२८,००० वर्ष
त्रेतायुग के	१२,९६,००० वर्ष
द्वापरयुग के	८,६४,००० वर्ष
आज तक कलियुग के	५,०३० वर्ष
वैवस्वत मनु से आज तक का योग	१२,०५,३३,०३० वर्ष

हमारे हिसाब और विश्वास के अनुसार मनुष्यों को पैदा हुए भी आज तक इतना ही समय हुआ। धार्मिक विद्वानों और पदार्थ-विज्ञानियों का निकाला हुआ समय इस लम्बे समय के साथ नहीं पहुँचता, न पहुँचे, इसकी परवाह नहीं, परन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि यदि मनुष्य वैवस्वत मनु में पैदा हुए तो उन्होंने स्वायम्भुव मनु से गिनती कैसे शुरू की? इसका उत्तर यह है कि कल का दिन अभी नहीं हुआ पर कल होगा, इस बात का जिन प्रमाणों से हम निश्चय कर सकते हैं और वह निश्चय बिलकुल सत्य होता है, उसी प्रकार आनेवाले मन्वन्तरों के विषय में भी हमारा

---

१. हर नाप-तौल का यह नियम है कि वह छोटे से बड़े की ओर चलता है, परन्तु युग बड़े से छोटे की ओर चलते हैं, अर्थात् पहले सत्ययुग होता है जो सबसे बड़ा है और अन्त में कलि आता है जो सबसे छोटा होता है। जब हम समयविभाग के दूसरे अङ्गों को देखते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि इतनी घड़ी का दिन, इतने दिन का मास, और इतने मास का वर्ष होता है, किन्तु जब युगों में पहुँचते हैं तो उनको उलटा पाते हैं। इसका समाधान यह है कि युगों के क्रम में पहले कलि है, क्योंकि 'कल संख्याने' का अर्थ संख्या का आरम्भ है। संख्या का आरम्भ १ है जो कलि के लिए आता है और २, ३, ४ क्रम से द्वापर, त्रेता और कृत के लिए आते हैं। द्वापर, कलि का दूना, त्रेता कलि का तिगुना और कृत जो चार का वाचक है कलि का चौगुना समझा जाता है, अर्थात् उनका क्रम १, २, ३, ४ होता है पर 'अङ्कानां वामतो गतिः' अर्थात् अङ्क बाईं ओर को चलते हैं, इसलिए पहले ४ अंकवाला सत्ययुग ही गिना जाता है।

निश्चय सत्य होना चाहिए। यह कोई अलौकिक विधि नहीं है, प्रत्युत ज्योतिष्-सम्बन्धी गणित ही है, जिसे परमात्मा ने वेदों के द्वारा बतलाया है।

ऊपर हमने लिखा है कि मनुष्यसृष्टि वैवस्वत मनु के समय में हुई। इस उक्ति के अनेक कारणों में से मुख्य कारण यह है कि हमारे आर्यकुलभूषण क्षत्रिय ही राजा थे और इतिहास में विशेषरूप से उन्हीं राजाओं की चर्चा है। उस चर्चा से ज्ञात होता है कि हमारे सूर्यवंश और चन्द्रवंश के राजाओं की दोनों प्रधान शाखाएँ वैवस्वत मनु से ही आरम्भ होती है। इसके पूर्व का कोई क्षत्रियवंश नहीं जाना जाता। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव वैवस्वत मनु के ही समय से हुआ, परन्तु हमारी सृष्टि की संख्या सृष्टि के आरम्भ से है, वैवस्वत मनु से नहीं। सृष्टि आरम्भ का अर्थ है छूटे हुए परमाणुओं का फिर से मिलना। जबसे परमाणु मिलने लगते हैं तभी से सृष्टि का आरम्भ माना जाता है, तभी से ब्रह्मदिन शुरू होता है और तभी से कल्प का आरम्भ होता है और जब तक एक-एक परमाणु अलग-अलग न हो जाए तब तक सृष्टि ही समझी जाती है, अर्थात् परमाणुओं का बिलकुल छूट जाना ही पूर्ण प्रलय है। यदि कहो कि हम मनुष्यों की उत्पत्ति से सृष्टि का आरम्भ मानेंगे तो मनुष्यों के नाश से ही सृष्टि की समाप्ति भी माननी पड़ेगी, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य प्राणी सूर्य-चन्द्र, पशु-पक्षी और तृण-पल्लव के बाद ही उत्पन्न हुआ है और इन सबके रहते हुए ही उसका अन्त हो जाएगा, क्योंकि इन्हीं के आधार से उसकी स्थिति है। यदि मनुष्य के अन्त से सृष्टि का अन्त माना जाए तो प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मनुष्य के अन्त के बाद जो पदार्थ संसार में रह जाएँगे वे सब प्रलय में समझे जाएँगे? और क्या जो पदार्थ मनुष्य उत्पन्न होने के पूर्व पैदा हुए थे वे सब प्रलय दशा में हुए थे? यदि कहो हाँ, तो प्रलय का कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता और यदि कहो नहीं तो सृष्टिसंवत् मनुष्य-उत्पत्ति से नहीं प्रत्युत सृष्टि-उत्पत्ति के आरम्भ से मानना पड़ेगा, अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति स्वायम्भुव मनु से और मनुष्य-उत्पत्ति वैवस्वत मनु से माननी पड़ेगी। वैवस्वत मनु को पैदा हुए आज तक १२,०५,३३,०३० (बारह करोड़ पाँच लाख तेतीस हज़ार तीस) वर्ष हो गये। यही काल मनुष्य उत्पत्ति का भी है। यद्यपि यह संख्या लोगों को अधिक प्रतीत होगी, क्योंकि आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य की उत्पत्ति का समय एक लाख से ६० लाख वर्ष तक ही माना है, परन्तु यह खोज अभी पूर्ण नहीं समझी जाती। इसमें अभी नये-नये अनुभव हो रहे हैं और नये-नये पदार्थ पृथिवी से निकल-निकलकर अपना काल पूर्व-पूर्व बढ़ा रहे हैं।

भारत की प्राचीन सभ्यता, जो भारत से आर्यों के साथ बाहर गई है, वह उन-उन देशों में किसी-न-किसी घटना के आरम्भ दिन से अपना संवत् या शाका चला रही है। उन सब संवतों के देखने से जाना जाता है कि मनुष्य करोड़ों वर्ष से अपनी ऐतिहासिक वर्ष संख्या चला रहा है। ये ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जो झूठी नहीं हो सकतीं। ऊपर दिये हुए आर्यों के मौलिक संवत् से चीनियों का संवत् कुछ कम है। उसकी वर्ष संख्या ९,६०,०२,४२९ है। खताई लोगों का संवत् ८,८८,४०,३०१ वर्ष का है और आजकल चल रहा है। इन संवतों की इन लम्बी संख्याओं को गप्प न समझना चाहिए। चाल्डियावाले पृथिवी की उत्पत्ति को २१५ मिरियड वर्ष बतलाते हैं। एक मिरियड दश हज़ार वर्ष का होता है। इसलिए उनका संवत् २ करोड़ १५ लाख वर्ष तक जाता है[१]। यह पृथिवी की उत्पत्ति का समय नहीं है, किन्तु उनके किसी संवत् का समय है। उनके यहाँ एक और वर्ष संख्या है जो चार लाख सत्तर हज़ार (४,७०,०००) वर्ष की मानी जाती

१. According to the same remarkable system, the earth had already existed for 215 myriads (a myreads of 10,000) of years. —*The Age of the Earth*, p. 3.

है[१]। इसी प्रकार फिनीशियावालों के यहाँ भी तीस हज़ार वर्ष की चर्चा है[२]। कहने का भाव यह है कि आर्य ही नहीं, प्रत्युत पृथिवी के अनेक भागों में बसे हुए मनुष्य अपना क्रम करोड़ो वर्ष पूर्व तक ले-जाते हैं। यहाँ हम संसार के थोड़े-से संवतों को नीचे लिखते हैं—

आदिसृष्टि से संकल्पसंवत्	१,९७,२९,४०,०३०
वैवस्त मनु से आर्यसंवत्	१२,०५,३३,०३०
चीन के प्रथम राजा से चीनी संवत्	९,६०,०२,४२९
खता के प्रथम पुरुष से खताई संवत्	८,८८,४०,३०१
पृथिवी उत्पत्ति का चाल्डियन संवत्	२,१५,००,०००
ज्योतिष्-विषयक चाल्डियन संवत्	४,७०,०००
ईरान के प्रथम राजा से ईरानियन संवत्	१,८९,९०८
आर्यों के फिनीशिया जाने के समय से फिनीशियन संवत्	३०,०००
इजिप्ट जाने के समय से इजिप्शियन संवत्	२८,५८२
किसी विशेष घटना से इबरानियन संवत्	५,९४२
कलि के आरम्भ से कलियुगी संवत्	५,०३०
युधिष्ठिर के प्रथम राज्यारोहण से युधिष्ठिर संवत्	४,०८५
मूसा के धर्मप्रचार से मूसाई संवत्	३,४९६
ईसा के जन्म दिन से ईसाई संवत्	१,९२९

संसार के इन संवतों को देखने से हमारा निकला हुआ मनुष्य उत्पत्ति का समय बहुत अच्छी प्रकार मिल जाता है। चीन और खता के संवतों से हमारा संवत् कुछ ही अधिक है। इसका कारण यही है कि यह मूल से सम्बन्ध रखता है और वे शाखाओं से। इन संवतों में से कुछ को लेकर संसार के इतिहासविभाग बनाये जा सकते हैं। ऊपर जो संवत् और सृष्टि-उत्पत्ति के अङ्क दिये गये हैं उनमें से कुछ वह समय सूचित करते हैं जब कई जातियाँ आर्यों से पृथक् होकर भारत से विदेश को गईं। मनुष्यों को उत्पन्न हुए बारह करोड़ वर्ष हुए। ज्ञात होता है कि उत्पत्ति के तीन करोड़ वर्ष बाद सबसे पहले चीनवाले पृथक् हुए। उनको गये नव करोड़ वर्ष बीते। इनके बाद खताई लोगों को गये आठ करोड़ वर्ष व्यतीय हुए। इनके बाद चाल्डियावालों को पृथक् हुए दो करोड़ वर्ष व्यतीत हुए। इसके पश्चात् यहाँ ज्योतिष्ग्रन्थों के लिखने का समय आता है। सूर्यसिद्धान्त को लिखे २१,६५,००० वर्ष व्यतीत हो चुके। वाल्मीकि रामायण अर्थात् रामचन्द्र को हुए १२,६९,००० वर्ष हुए। अनुमान है कि चाल्डिया को फिर एक धारा गई, जिसको गये ४,७०,००० वर्ष हो गये। फिनीशियावाले यहाँ से दुबारा गये, उस समय को ३०,००० वर्ष बीते और मिस्रवालों को गये २८,५८२ वर्ष हुए। २२ हज़ार वर्ष के ब्राह्मणग्रन्थ विद्यमान हैं। मेगास्थनीज़ के समय की वंशावली भी आज तक नौ हज़ार वर्ष की होती है और चार हज़ार वर्ष से अधिक की आनुपूर्वी भारतीय वंशावली उपस्थित है। इस प्रकार इतिहास के मुख्य खण्ड बनाये जा सकते हैं। यदि हमसे कोई पूछे कि मनुष्योत्पत्ति और वर्त्तमान समय के

१. Cicero relates that their venerable priesthood had records of stellar observation stretching back for 470,000 years. —*The Age of the Earth*, p. 2.

२. We should, in this connection, recall to mind the tradition current among the phœnicians who told Julius Africanus that they had been in phœnicia for nearly 30,000 years. —*Rigvedic India*, p. 239.

बीच की कोई दीर्घकालीन घटना बतलाइए तो हम ऊपर का हिसाब दे सकते हैं। भारत के इतिहास से संसारभर का सम्बन्ध है। सब यहाँ से गये हैं और बहुतों के जाने का समय उपर्युक्त संवतों से ज्ञात होता है। जगत् के इतिहास की यही सामग्री है और भारत के करोड़ों वर्ष का चुम्बुक इतिहास है। संसारभर के प्राचीन संवतों और इतिहासों से स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का सृष्टिसंवत् और मनुष्योत्पत्ति काल कितना प्रामाणिक है।

जो विद्वान् इसकी दीर्घकालीनता को सिकोड़ना चाहते हैं, वे ग़लती पर हैं। इसको अधिक सिकोड़नेवाले पाश्चात्य विद्वान् ही हैं, परन्तु आनन्द की बात है कि उनकी इस संकीर्णता को सबसे पहले लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष् के प्रमाणों से ओरायन नामी पुस्तक के द्वारा हटाया। यूरोपवाले वेदों को ईस्वी सन् पूर्व १५०० वर्ष से आगे नहीं जाने देते थे, परन्तु लोकमान्य तिलक ने उस समय को ४००० वर्ष ईस्वी सन् पूर्व तक पहुँचाया और अपनी दूसरी पुस्तक 'उत्तरध्रुव निवास' के द्वारा वेदों को १० हज़ार वर्ष से भी पूर्व का सिद्ध किया, परन्तु अब तिलक महोदय के इस सिद्धान्त के भी खण्डन करनेवाले मैदान में आ गये हैं। उमेशचन्द्रदत्त, बाबू अविनाशचन्द्र दास और नाना पावगी आदि ने तिलक महोदय के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए, वेदों के प्रमाणों ही से आर्यों और वेदों की उत्पत्ति भारतदेश में लाखों वर्ष पूर्व सिद्ध की है और मान लिया है कि वेदों का प्रादुर्भाव मनुष्य-उत्पत्तिवाले युग में ही हुआ है। वेदों की आयु कितनी पुरानी है इस विषय में उक्त तीनों विद्वानों की सम्मति सुनिए। बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न लिखते हैं कि सामवेद की आयु एक लाख वर्ष से कम नहीं है[१]। पावगी महोदय कहते हैं कि 'इस विषय में भूगर्भ शास्त्रियों का मत है कि मनुष्य प्राणी तृतीय युग में पैदा हुआ। हमारे ऋग्वेद के ऋषि तृतीय युग में थे। तृतीय युग के पश्चात् ही हिमयुग हुआ। हिमयुग दो बार हुआ है। इन हिमयुगों के समय में ही पाषाणयुग आरम्भ हुआ। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि पाषाणयुग के शुरू हुए २,४०,००० वर्ष हो गये[२]'। अविनाश बाबू कहते हैं कि 'ऋग्वेद के प्राचीन सूक्त उस समय बने जिस समय राजपूताने और युक्तप्रान्त में (जहाँ गङ्गा बह रही है) समुद्र लहरा रहा था। वह 'टर्शेरी' युग था। उस समय का अनुमान आज से तीन-चार लाख वर्ष पूर्व का किया जा सकता है। भूगर्भ-सम्बन्धी साक्षियों से सिद्ध है कि संसार और भारतभूमि में टर्शेरीयुग के मायोसीन और प्लायोसीन विभाग में मनुष्य प्राणी उन्नत हुआ। प्राचीन वैदिक सभ्यता अत्यन्त भूतकालीन है, जो करोड़ों नहीं तो लाखों वर्ष की प्राचीन कही जा सकती है। मैंने वेदों की जो इतनी भूतकालीन प्राचीनता लिखी है, सम्भव है कि वैदिक विद्वान् उसपर नाक-भौं चढ़ावें, परन्तु मेरे सिद्धान्त भूगर्भशास्त्र के अनुसार हैं, अतः ये उन्हीं के साथ या तो गिर जाएँगे या स्वीकृत होंगे। इन्हीं सब कारणों से सर्वसाधारण की यह मान्यता पुष्ट होती है कि वेद नित्य, अपौरुषेय और ईश्वर प्रदत्त है[३]'।

---

१ सामवेदेर वयःक्रम लक्षवत्सरेर न्यून हईबेना। —मानवेर आदि जन्मभूमि, पृ० २८

२. मानवी प्राणी तृतीय युगान्त उत्पन्न झाल्याविषयीं भूस्तरशास्त्रज्ञांचे मतैक्यच असल्याचें दिसतें। आमचे ऋग्वेदर्षी तृतीय युगांतले होत। तृतीय युगान्तर हैम युग उद्भवलें। हीं हिमयुगें दोन असल्या विषयीं कांहीं भूस्तरशास्त्रज्ञांचे मत असून, ह्या दरम्यानच्या कालान्त, म्हणजे हैमयुगान्तराल कालान्त, जें अश्मयुग अथवा पाषाणयुग सुरूँ झालें, त्यालाच २,४०,००० वर्षें होऊन गेलीं, असें पाश्चात्य शोधक लिहितात।

—आर्यावर्तींतील आर्यांची जन्मभूमि, पृष्ठ ७६

३. As some of the ancient hymns of the Rigveda contain evidence and indication of a different distribution of land and water in Sapt-Sindhu, we are compelled to go back to that ancient time when such a distribution actually existed. The results of geological investigations go to show that

यहाँ तक हमने इन नवीन ढंग से खोज करनेवाले भारतीय विद्वानों के मत से देखा कि वेद लाखों वर्ष के प्राचीन सिद्ध होते हैं। वेदों की यह दीर्घायु, इन विद्वानों की ओर से प्रतिपादित होना बड़े सन्तोष की बात है। इस पुण्यकार्य के लिए सबसे प्रथम तिलक महोदय का ही नाम उल्लेखनीय है। यूरोपनिवासियों के निष्कर्ष का परित्याग करके स्वतन्त्र रीति से वेदों का काल निकालना और उनके निकाले हुए समय से अधिक बतलाकर इजिप्ट और बेबिलोन की सभ्यता के साथ मेल मिलाना उनका ही काम था। उनका यह अन्वेषक पन्थ उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और आशा है कि आगे यह मण्डल वेदों की वास्तविकता तक शीघ्र पहुँच जाएगा, किन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उक्त महाशयों ने जिन प्रमाणों से वेदों का यह समय स्थिर किया है, वह उन प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वेदों में इतिहास नहीं है।

दासबाबू ने आर्यों का निवास सप्तसिन्धु में माना है। वे कहते हैं कि सप्तसिन्धु पञ्जाब के आसपास था। वेदों के तीन-चार मन्त्रों से वे उस समय की कल्पना करते हैं और कहते हैं कि जिस समय सरस्वती नदी राजपूताने के समुद्र में गिरती थी उस समय को हुए लाखों वर्ष बीत गये। नाना पावगी आर्यों को पञ्जाब की सैंधव श्रेणी में बतलाते हैं और कहते हैं कि वेदों में सोमलता का वर्णन है और सोमलता हिमालय पर होती हैं, इसलिए आर्यों की उत्पत्ति सप्तसिन्धु में हुई। हमारा विश्वास है कि ये कल्पनाएँ ठीक नहीं हैं, अतएव हम यहाँ सप्तसिन्धु, सोमलता, सरस्वती और समुद्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करके देखना चाहते हैं कि वेदों में आये हुए इन शब्दों और मन्त्रों का क्या अर्थ है।

सप्तसिन्धुदेश

सप्त और सिन्धु शब्द वेदों में हैं, परन्तु वे सर्वत्र सातों इन्द्रियों, वाणी और सूर्य की किरणों के लिए ही आते हैं, पृथिवी की किन्हीं सात नदियों के लिए नहीं। जिस प्रकार सात इन्द्रियों (दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र और मुख) से शिरस्थान सप्तसिन्धु है और जिस प्रकार सात किरणों से द्यौस्थान सप्ससिन्धु है उसी प्रकार सात नदियों से सप्तसिन्धु हो सकता है, परन्तु भारतवर्ष को या उसके किसी प्रान्त को आर्यों ने सप्तसिन्धु के नाम से कभी नहीं पुकारा। पञ्जाब प्रत्यक्ष ही पाँच नदियों से बना है। रहा सिन्धप्रदेश, वह आज तक केवल सिन्ध ही कहलाता है, कोई उसे सप्तसिन्धु नहीं कहता। सिन्ध का सम्बन्ध बलूचिस्तान, ईरान और अरब से रहा है और वहाँ 'स' को 'ह' बोलते हैं, इसीलिए उस प्रान्त का नाम सिन्धु से सिन्ध और

---

modern Rajputana was a sea in Tertiary Era, and the Gangetic through to the east of the Punjab was also a sea up to the end of the Mioscene epoch. As there are distinct references to these seas in some hymns of the Rigveda, we cannot help assigning their age to that epoch which lasted till more than three or four hundred·thousand years ago. There is also geological evidence to show that man flourished on the Global and in India in Miocene and Pliocene epochs.

—*Rigvedic India*, p. 556-557.

The age of the early Rigvedic civilisation goes back to a period of time which is last in the impenetrable darkness of the past to which hundred of thousand, if not quite a million of years, can be safely assigned, without one being accused of romancing wildly. —*Ibid*, p. 230.

As regards my calculation of the age of some of the oldest hymns of the Rigveda which I have set down to the Miocene, at any rate to the Pliocene or the Pleistocene epoch, I am afraid that Vedic scholars will accuse me of romancing wildly. But if the geological deductions are found to be correct, my calculations which are based on them can not be wrong. They will either stand or fall with them.

—*Ibid*, p. 567.

This goes to confirm the popular belief that the Vedas are eternal and not ascribable to any human agency (apaurusheya), and that they emanated from Brahma, the Creator himself.

—*Ibid*, p. 558.

सिन्ध से हिन्द हो गया और उसी पर से सारे देश का नाम भी हिन्द कहलाने लगा, परन्तु उसको कभी किसी ने 'सप्तसिन्धु' नाम से नहीं पुकारा। हाँ, पारसियों के यहाँ हप्तहिन्द का वर्णन है, परन्तु किसी को अब तक पता नहीं है कि वह क्या वस्तु है, और कहाँ है। पहले आर्यों की बस्ती यहाँ से फ़ारस तक थी। फ़ारसवाले ही सिन्धुदेश को हिन्द कहते थे। वही लोग सिन्धुदेश से पूर्व बसनेवालों को पूर्वीहिन्दू और अपने को पश्चिमीहिन्दू कहते थे, तभी से सिन्धुदेश हिन्दू कहलाने लगा। उनके यशत नामक ग्रन्थ के १०। १०४ में लिखा है कि 'मिथ' के लम्बे हाथ उनको पकड़ लेते हैं जो उसको धोखा देते हैं। जब पूर्वी हिन्दू में होते हैं तब मिथ् उन्हें पकड़ लेता है और जब पश्चिमी हिन्दू में होते हैं तब उन्हें मार डालता है'। इसी प्रकार 'सरऔश' की प्रशंसा करते हुए कहते हैं 'कि जब पूर्वी हिन्दू में हो तब भी वह अपने शत्रु को पकड़ लेता है और जब पश्चिमी हिन्दू में हो तब भी उसे मार डालता है'। यहाँ भी पूर्वी और पश्चिमी हिन्दुओं का वर्णन है, सप्तसिन्धु या हप्तहिन्द का नहीं। यह हप्तहिन्द की कल्पना पारसियों की ही है, भारतीयों की नहीं। वेदों के पदपाठ में सप्त से सम्बन्ध रखनेवाले सप्त ऋषयः, सप्ताश्वः आदि अनेक शब्द हैं, परन्तु 'सप्तसिन्धु' एकत्र नहीं है। इससे प्रकट होता है कि यह शब्द रूढ़ नहीं है। वेद के जिन मन्त्रों से लोग सप्तसिन्धु सिद्ध करते हैं, उनमें सात किरणों का ही वर्णन है। वेदों में किरणों का विज्ञान प्रचुरता से आता है। नदियों के वर्णन में इस विषय पर हम बहुत कुछ लिख चुके हैं, किन्तु यहाँ भी उचित समझते हैं कि उसका थोड़ा-सा वर्णन कर दें। अथर्ववेद में लिखा है—

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्य। स सोमं प्रथमः पपौ स चकाररसं विषम्॥

—अथर्व० ४।६।१

अर्थात् पहले सूर्य हुआ जिसने अपने दश शिर और दश मुख से सोम का पान किया और विषों को अरस किया।

सूर्य के ये दश मुख और दश शिर किरणें ही हैं। वेदों में इन दश प्रकार की किरणों का विलक्षण वर्णन है। ऋग्वेद ९।९७।२३ में लिखा है कि **'रश्मिभिर्दशभिः'**, अर्थात् दश किरणों से। दूसरे स्थान पर ऋ० ९।९२।४ में लिखा है कि **'दश स्वधाभिरधि सानो अव्ये मृजन्ति त्वा नद्यः सप्त यह्वीः'**, अर्थात् दश किरणों से सात नदियाँ बहती हैं। तीसरे स्थान पर ऋ० ६।६१।१० में कहा है कि **'सप्तस्वसा.....सरस्वती'**, अर्थात् सरस्वती सात बहिनें हैं। इस मन्त्र से अगले मन्त्र ६।६१।११ में कहते हैं कि **'आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु'**, अर्थात् पृथिवी का जल खींचनेवाली सरस्वति! तू अन्तरिक्ष की रक्षा कर। पानी खींचनेवाली, आकाश की रक्षा करनेवाली और सात बहिनोंवाली सरस्वती क्या कभी पञ्जाब की नदियाँ हो सकती हैं? और क्या दश रश्मियों से सम्बन्ध रखनेवाली ये सातों नदियाँ कभी पानी बहानेवाली नदियाँ हो सकती है? कभी नहीं। ऋग्वेद में तो स्पष्ट लिखा है—

याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद्गातुमूर्मिम्।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ —ऋ० ७।४७।४

अर्थात् सूर्य जिनको रश्मियों से फैलाता है, जिनसे इन्द्र तरङ्गावली (Vibration) पैदा करता है, वे सिन्धु नदियाँ हमारा कल्याण करें।

यहाँ स्पष्ट हो गया कि ये वे नदियाँ हैं जिनके द्वारा किरणें फैलती हैं और जिनसे तरङ्गावली पैदा होती है। हाल के विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि ईथरतत्त्व के द्वारा किरणें आती हैं और तरङ्गावली पैदा होती है। हम पहले लिख चुके हैं कि अप्सरा किरणों का नाम है। **'अप्सु सरति**

अप्सरा', अर्थात् जो अप=ईथर में सरके वही अप्सरा है। इसी को 'सप्तापः' कहा गया है। सप्तापः को तिलक महोदय ने ईथर ही माना है।

ऋग्वेद ८।६९।१२ का अर्थ करते हुए तिलक महोदय कहते हैं कि 'सातों नदियाँ वरुण के मुख में गिरती हैं'[१]। यहाँ वरुण मेघ के सिवा और कुछ नहीं है। मेघ के मुख में जब किरणें समा जाती हैं तभी अन्धकार हो जाता है। ऋग्वेद १।३२।१२ का अर्थ करते हुए नाना पावगी कहते हैं कि 'इन्द्र ने वृत्र (मेघ) को वज्र से मारकर सातों सिन्धुओं को मुक्त किया'[२]। यहाँ स्पष्ट हो गया कि सूर्य ने बादलों को छिन्न-भिन्न करके किरणों को मुक्त कर दिया। अथर्ववेद के दो मन्त्रों ने तो इस विषय को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वहाँ लिखा है कि जो बादलों को मारकर सातों सिन्धुओं को मुक्त करता है[३]। ऋग्वेद ६।६१।७ के अनुसार सरस्वती भी वृत्र को मारती है। इस मन्त्र में उसको 'वृत्रघ्नी' कहा गया है[४]। इन प्रमाणों से अच्छी प्रकार विदित हो जाता है कि ये सप्तसिन्धु पृथिवी पर बहनेवाली नदियाँ नहीं, प्रत्युत आकाश में बहनेवाली किरणें हैं।

हम लिख चुके हैं कि ऋग्वेद १०।५२।४ में लिखा है कि **'त्रिवृतं सप्त तन्तुम्'** और ऋ० ८।७२।८ में **'खेदया त्रिवृता दिवः'**, अर्थात् ये सातों किरणें तिहरी हैं। इनमें एक सूत ईथर का है, दूसरा अग्नि का और तीसरा पानी का। ईथर का सूत तो 'अप' शब्द के वर्णन में देख चुके हैं, अब अग्नि का वर्णन देखिए। ऋ० ८।३९।८ में लिखा है कि **'यो अग्निः सप्त मानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु'**, अर्थात् जो अग्नि मनुष्यों में, संसार में और सातों नदियों में ठहरा है। यहाँ सात नदियों में अग्नि का ठहरना स्पष्ट कर देता है कि तिहरी किरणों में एक तन्तु अग्नि का है। ऋ० ९।८६।३३ में पानी के लिए लिखा है कि **'सहस्रधारः परि षिच्यते हरिः'**, अर्थात् बादल हज़ारों धाराओं से किरणों को सींचते हैं। किरणें ही पानी लाती हैं, वे आग्नेय हैं और ईथर के सहारे चलती हैं, इसलिए वे 'त्रिवृत' कही गई हैं। ऊपर जो दश किरणें कही गई हैं, उनमें सात तिहरी हैं जो सप्तसिन्धु कहलाती हैं। इनके लिए ऋ० २।१२।१२ में कहा है कि **'यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवा सृजत्सर्तवे सप्त सिधून्'**, अर्थात् जो सूर्य सात किरणों से सप्तसिन्धुओं को रेंगाता है। दूसरे स्थान पर ऋ० ५।५१।७ में तो स्पष्ट ही कह दिया है कि **'निम्नं न यन्ति सिन्धवः'**, अर्थात् नदियाँ नीचे को आती हैं।

ऊपर से नीचे को आनेवाली और ईथर पर रेंगनेवाली नदियाँ किरणों के सिवा और कुछ नहीं हो सकतीं। इन्हीं किरणों के लिए तिलक महोदय ने लिखा है कि सात नदियाँ वरुण के मुख में गिरती हैं और इन्हीं के लिए पावगी महोदय कहते हैं कि इन्द्र ने वृत्र को मारकर सातों नदियों को मुक्त किया। सप्ताप, सप्तरश्मि और सप्तसिन्धु उसी **'त्रिवृत सप्त तन्तुम्'**, अर्थात् तिहरे सातों तन्तुओं के भेद हैं। सप्ताप ईथर के लिए, सप्तरश्मि किरणों के लिए और सप्तसिन्धु उस पानी के लिए है जो किरणों के द्वारा ऊपर चढ़ता है। किरणें इकहरी नहीं बल्कि तिहरी है, इसीलिए ये कभी सात और कभी इक्कीस कही गई हैं। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों में सप्तसिन्धु शब्द किसी ऐसे स्थान के लिए नहीं आया जहाँ सात नदियाँ हों, क्योंकि वेदों में

---

१. **सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥** —ऋ० ८।६९।१२

२. **अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।**
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्॥ —ऋ० १।३२।१२

३. **यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्।** —अथर्व० २०।३४।३
अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून्। —अथर्व० २०।९१।१२

४. **उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्।** —ऋ० ६।६१।७

भूभागों की सीमा के निर्धारण का वर्णन सर्वथा नहीं है।

सोमलता

सोमलता की उत्पत्ति पावगी महाशय ने मूजवान् पर्वत पर बतलाई है। प्रमाण में '**सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः**' यह ऋ० १०।३४।१ का मन्त्र उद्धृत किया है। निरुक्त में '**मूजवान् पर्वतः**' पाठ है, किन्तु वेद का 'मौजवत' और निरुक्त का 'मूजवान्' एक ही है, इसमें सन्देह है, क्योंकि सुश्रुत में 'मुञ्जवान्' सोम का पर्याय लिखा हुआ है। मौजवत, मूजवान् और मुञ्जवान् में अन्तर ज्ञात होता है। वेद में एक पदार्थ का वर्णन जो सोम नाम से आता है वह पृथिवी के वृक्षों की जान है। वह देवताओं को वृक्षों की भाँति रस, छाया, हरियाली आदि वनीय तथा सौम्य पदार्थों से तृप्त करता है। इन्द्र के नन्दनवन का यही देवतरु है। जिस प्रकार यह आकाश का वृक्ष है उसी प्रकार यह पृथिवी की वनस्पति का पोषक है, उसमें सौम्यभाव लानेवाला ओषधिराज है और वनस्पतिमात्र का स्वामी है। वह जिस स्थान में रहता है उसको 'मौजवत' कहते हैं। हम पहले दिखला आये हैं कि गौओं—किरणों के निवास को 'व्रज' और अश्वों—किरणों के निवास को 'अर्व' कहते हैं, उसी प्रकार सोम के स्थान को मौजवत कहा गया है। यह स्थान पृथिवी पर नहीं, किन्तु आकाश में है। पावगी महाशय 'आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' में पृष्ठ २१४ पर ब्राह्मण का वाक्य '**दिवि वै सोम आसीत्**' अर्थात् दिवि ही सोम था, लिखकर स्वयं कहते हैं कि '**ह्यावरून असें दिसतें की सोम हा प्रथमतः स्वर्ग्रान्त होता, परन्तु तेथून त्याला भूतलावर आणिलें**'। अर्थात् ऐसा ज्ञात होता है कि यह सोम पहले स्वर्ग में था, परन्तु वहाँ से उसको पृथिवी पर लाये। यह सोम पहले पृथ्वी पर नहीं था, परन्तु याज्ञिक काल में जिस प्रकार यज्ञों में पशुओं का वध होने लगा, उसी प्रकार सोमरस के नाम से किसी नशीली वस्तु का उपयोग भी होने लगा। सुश्रुत में '**अंशुमान् मुञ्जावांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः**'[१] आदि इसके अनेक नाम हैं और सबका गुण भी समान ही लिखा है। यथा—

सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने। सर्वे तुल्यगुणश्चैव विधानं तेषु दृश्यते॥ —सुश्रुत[२]

फिर यज्ञ के लिए लिखा है कि '**अंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुतमभिहुतम्**'[३] अर्थात् सोम लाकर अध्वरकल्प के अनुसार आहुति देकर '**सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात्**'[४] अर्थात् सोम की जड़ को सुवर्ण की सूची से छेदकर रस निकाल लेवें और पी जावे। आगे लिखा है कि इस क्रिया से रस पीकर जो कुटी प्रवेश करता है उसको अग्नि नहीं जला सकती, उसके एक हज़ार हाथी का बल हो जाता है, वह बहुत सुन्दर और सब संसार में फिरनेवाला होता है। इसके सिवा वह '**दशवर्ष सहस्राणि नवां धारयते तनुम्**'[५], अर्थात् दश हज़ार वर्ष तक जवान बना रहता है। शुक्लपक्ष में इस सोमलता में पत्ते होते हैं, और कृष्णपक्ष में गिर जाते हैं। यह हिमालय, आबू, सह्याद्रि, महेन्द्राचल, श्रीशैल, देवगिरि, पंजाब और सिन्ध में मिलती है। यहाँ तक सुश्रुत का ही वर्णन है। इस सुश्रुत के वर्णन और वेद की पुष्टि से आपकी उत्कट इच्छा इसके पाने की हुई होगी। साथ ही इतने स्पष्ट वर्णन से यह भी विश्वास हो गया होगा कि वेद में इसी पत्ती का वर्णन है, परन्तु जब यह प्रश्न होता है कि क्या सोमलता हमको दिखला सकते हो तब सुश्रुत के ही मुँह से कहलाया जाता है कि—

---

१. सुश्रुत० चिकि० २९।५
२. सुश्रुत० चिकि० २९।९
३. सुश्रुत० चिकि० २९।१०
४. सुश्रुत० चिकि० २९।१०
५. सुश्रुत० चिकि० २९।१४

न तान्पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा॥ —सुश्रुत चिकि० २९। ३२

अर्थात् सोम का पौधा अधर्मी, कृतघ्न, औषधद्वेषी और ब्राह्मणद्वेषी को दिखलाई नहीं पड़ता।

चलो छुट्टी हुई, आँख खुल गई, कहीं कुछ नहीं। क्या इन्द्रजाल है! हम पावगी महोदय से विनयपूर्वक पूछते हैं कि क्या आपने सोमलता कभी देखी है? जिस हिमालाय से सुरगौ की पूँछ, कस्तूरी, शहद, शिलाजीत आदि सैकड़ों जंगली और पहाड़ी वस्तुएँ यहाँ बिकने को आती हैं, वहाँ से क्या आप कृपा करके हमको दस रुपये की सोमलता भी मँगा देंगे? कदापि नहीं। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि सोमलता वास्तव में पृथिवी पर की कोई वस्तु है ही नहीं।

२५ अक्टूबर सन् १८८४ के 'एकेडेमी' में प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं कि 'सूत्रों और ब्राह्मणों में भी यह बात मानी गई है कि सोमलता का मिलना बहुत कठिन है'। इसी प्रकार ज़न्दावस्था भाग १ पृष्ठ ६९ में डारमेस्टेटर कहता है कि 'सोम या होम के अन्तर्गत समस्त प्रकार की वनस्पतियों की जीवनीशक्ति का समावेश होता है'। रहे सोम के पीनेवाले इन्द्र, अग्नि आदि देवता जिनको पावगी महाशय भारत में ही जन्मे हुए बतलाते हैं, हमारी समझ में नहीं आता कि इसमें क्या फ़िलासफ़ी है। क्या इन्द्र और अग्नि भी कोई पहाड़ी लोग हैं? यदि नहीं, तो उनका पैदा होना क्या? सोम का अर्थ तो, इन्द्र (सूर्य) और अग्नि (विद्युत्) से ही समझ लेना था कि यह पदार्थ पृथिवी का नहीं है। मौजवत, मधुर, मदकारी और वनस्पति आदि शब्द, जो सोम के लिये ऋ० १०। ३४। १, ६; ४७। १ में आये हैं, आपको धोखा दे रहे हैं, परन्तु हम विश्वासपूर्वक कहते हैं कि सोमलता पृथिवी का पदार्थ नहीं है। जैसाकि डारमेस्टेटर कहते हैं कि सोम, समस्त वनस्पति की जीवनी-शक्ति का नाम है। हम भी कहते हैं कि यह सत्य है। वनस्पति की जीवनीशक्ति चन्द्रमा के अधीन है। उसका नाम सोम है। वह ओषधिराज है। वह लतारूप है। पन्द्रह दिन तक उसमें एक-एक पत्ता बढ़ता है और पन्द्रह दिन तक एक-एक घटता है। यह शान्त चित्तवालों के लिए मधुर, विरहियों के लिए कटु और युवावस्थावालों के लिए मदकारी है। आकाश में यह जिस स्थान में रहता है, उस स्थान को मौजवत कहते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि—

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः॥ —ऋ० १। २३। २०

यहाँ सोम समस्त ओषधियों के अन्दर व्याप्त बतलाया गया है। इस सोम को ऐतरेयब्राह्मण ७। २। १० में स्पष्ट कह दिया है कि **'एतद्वै देव सोमं यच्चन्द्रमाः'** अर्थात् यही देवताओं का सोम है, जो चन्द्रमा है। इस सोम को गरुड़ और श्येन स्वर्ग से लाते हैं। गरुड़ और श्येन भी सूर्य की किरणें ही हैं। सोम का सौम्य गुण ओषधियों में पड़ता है, यही स्वर्ग से गरुड़ और श्येन द्वारा उसका लाना है। महाशय पावगी को हम परामर्श देते हैं कि आप वेदपाठ करते समय ध्यान रक्खें कि वेदों में एक आकाशीय संसार भी है। पृथिवी में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जो वहाँ न हो। उन्हीं पदार्थों के नामों से ही पृथिवी के पदार्थों का नामकरण हुआ है। हम पिछले पृष्ठों में आकाशीय संसार के कुछ नमूने दिखला आये हैं। इन्द्र-वृत्र के युद्ध को पढ़कर भूमि पर लड़नेवाले दो राजाओं का जिस प्रकार धोखा होता है उसी प्रकार इस 'मौजवत' में होनेवाली मधुर, तेज़, मदकारी सोम वनस्पति को देखकर भी धोखा होता है, परन्तु समझ तो लेना चाहिए कि वृत्र से लड़नेवाले इन्द्र के अन्य विशेषण क्या हैं? वेदों से सोमलता सिद्ध करने के लिए तो पावगी महाशय ने इतना ज़ोर लगाया पर किसी वेदमन्त्र से कपास या रुई को निकालकर न

दिखलाया जो पञ्जाब की विशेष उपज और आर्यों की प्रिय वस्तु है। वेदों में सूत कातने और कपड़े बुनने का वर्णन भरा पड़ा है, परन्तु रुई का नाम नहीं है। रेगोज़िन कहते हैं कि वैदिक काल में कपास की खेती होती थी[१]। इसी प्रकार उस समय पञ्जाब में नमक भी होता था और आर्य लोग उसका उपयोग भी करते होंगे, परन्तु दास बाबू कहते हैं कि वेदों में नमक का भी नाम नहीं है। खाने और पहनने के पदार्थों का नाम तो वेदों में नहीं है, परन्तु पावगी महाशय वेदों से सोमलता का वर्णन निकालते हैं, जो बिलकुल हवा है। हम तो इसे तब सत्य समझें जब आर्यों के नित्य उपयोग में आनेवाली कपास और नमक का भी नाम वेदों में दिखला दिया जाए। पावगी महाशय कहते हैं कि आर्य लोग पञ्जाब की सैन्धव श्रेणी (Salt Range) में रहते थे, किन्तु इसके विरुद्ध हम देखते हैं कि उनको सैन्धव=नमक का ज्ञान तक नहीं था[२]। इससे यही सिद्ध होता है कि वेद के शब्दों से ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करना नितान्त अनुचित है।

सरस्वती नदी और समुद्र

सरस्वती नदी और समुद्र के विवेचन द्वारा अब बाबू अविनाशचन्द्र दास के उन प्रमाणों की जाँच करते हैं, जिनसे उन्होंने वेदों की आयु और सप्तसिन्धु प्रदेश का अनुमान किया है। ऋग्वेद ७।९५।२ के **'एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्'**, अर्थात् नदियों में एक पवित्र सरस्वती नदी है जो पहाड़ से निकलकर समुद्र तक बहती है। इस मन्त्र से बाबू साहब यह बतलाना चाहते हैं कि यह मन्त्र उस समय बना जब सरस्वती नदी हिमालय से निकलकर राजपूताने (मरु मैदान में भरे हुए) समुद्र में गिरती थी, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि मन्त्र के पूरे पाठ से यह बात नहीं निकलती। निघण्टु में सरस्वती मध्यस्थानी देवता है, गिरि बादलों को कहते हैं और समुद्र आकाश का नाम है। नदियों के वर्णन में **'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति'** इस मन्त्र का अर्थ करते हुए हमने लिखा है कि दशों दिशा में फैलनेवाली सूर्य की दश किरणों में से एक सरस्वती भी है। यह सरस्वती नामक एक किरण बादलों से निकलकर आकाश में फैलती है, यही उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है। इस बात का स्पष्टीकरण उसी मन्त्र का दूसरा चरण कर देता है कि **'रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय'**, अर्थात् वह नाहुषों के लिए भुवन का समस्त घृत, पय और धन खींचने का यत्न करती है। भुवन शब्द स्पष्ट ही है। नहुष के वर्णन में हम दिखला चुके हैं कि नहुष आकाशीय पदार्थ है। घृत, पय और धन सदैव (आकाश में) जलवाचक हैं। सरस्वती नहुषों—बादलों के लिए आकाश का जल खींचती है, यह इसका भाव है। इस प्रकार इसका यह अर्थ हुआ कि बादलों से एक किरण निकलकर नहुषों (बादलों) के लिए अथवा सौर पदार्थों के लिए समस्त भुवन का जल खींचकर समुद्र (आकाश) को भरती है। यहाँ पृथिवी की सरस्वती नदी का वर्णन नहीं है। आप ऋग्वेद का दूसरा प्रमाण यह देते हैं कि—

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः। उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥

—ऋ० १०।१३६।५

अर्थात् सूर्य पूर्वी और उत्तरी दोनों समुद्रों में लहराता है। इससे आप यह कहना चाहते हैं कि अरब समुद्र और राजपूताने के समुद्र में उस समय सूर्य लहराता था, परन्तु इसमें तो पूर्व में

१. A fact which implies cultivation of the cotton plant or tree probably in Vedic times.
—*Vedic India by Ragozin*, p. 306.

२. Of the minerals in Sapta-Sindhu no mention is made of salt in the Rigveda, although the salt range exists in the very heart of the country. —*Rigvedic India*, p. 88.

प्रात:काल के समय सूर्य उदय होने का और शाम के समय पश्चिम में अस्त होने का वर्णन है। उदय और अस्त दोनों क्षितिज में ही होते हैं। ये दोनों क्षितिज आकाश=समुद्र कहे गये हैं, क्योंकि वेद में आकाश को समुद्र कहते ही हैं। इसमें भी राजपूताने के समुद्र का वर्णन नहीं है। इससे पूर्व के मन्त्र में ही कहा है कि—

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥ —ऋ० १०।१३६।४

अर्थात् (वही ऊपर के मन्त्रवाला) मुनि (सूर्य) अन्तरिक्ष से दोनों विश्वरूप आकाशों में गिरता और निकलता है। यहाँ 'विश्वरूपौ' और 'अन्तरिक्ष' पद स्पष्ट रक्खे हुए हैं, जिनसे सूर्य के उदय और अस्त होने का वर्णन स्पष्ट होता है।

रायःसमुद्राँश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। —ऋ० ९।३३।६
स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्। —ऋ० १०।४७।२

इन दो मन्त्रों से दासबाबू चार समुद्रों का वर्णन बतला कर कहते हैं कि मध्य एशिया तुर्किस्तान, राजपूताना और सप्तसिन्धु के समुद्र जिस समय भरे थे और सरस्वती नदी राजपूताने के समुद्र में गिरती थी, उस समय ऋग्वेद बना, किन्तु यहाँ इन दोनों मन्त्रों में नीचे-उपर के (पृथिवी, आकाश) दो समुद्र और पूर्व-पश्चिम के (उदय-अस्तस्थान) दो समुद्र, ऐसे चार समुद्रों का वर्णन है। '**ततः समुद्रो अर्णवः।**[१] **समुद्रादर्णवादधि**'[२] इन प्रसिद्ध मन्त्रों में कहा है कि तब समुद्र से समुद्र हुआ, अर्थात् आकाशस्थ मेघों से पृथिवीस्थ समुद्र हुआ। यही दोनों ऊपर-नीचे के समुद्र हैं और पूर्व-पश्चिम के दो दूसरे समुद्र हैं, जिनमें उदय-अस्त का अलङ्कार दिखलाया गया है। इस प्रकार ये चार समुद्र हैं, जिनसे सब सांसारिक सुख होते हैं। इन मन्त्रों में अविनाशबाबू के विषय का वर्णन बिलकुल नहीं है, अतः इन मन्त्रों से वेदों का वह समय नहीं निकल सकता जो आप निकालना चाहते हैं और न इनसे सप्तसिन्धु प्रदेश में वेदों की रचना ही सिद्ध होती है।

किन्तु प्रश्न होता है जिन प्रमाणों के भरोसे पर वेदों को इतना पुराना सिद्ध किया गया था, जब वे ही ग़लत निकले तब वेदों की प्राचीनता सिद्ध करने का कौन-सा साधन रहा ? साधन है, और वह देशी विधि का है। विदेशी विधि वेदों में ऐतिहासिक बातें निकालकर उन्हें प्राचीन सिद्ध करती है, परन्तु देशी विधि वेदों की अपौरुषयता को पुष्ट करती हुई आगे बढ़ती है। दास बाबू ने इतिहास और भौगोलिक प्रमाणों से वेदों को लाखों वर्ष पुराना सिद्ध किया, परन्तु हम देशी विधि से ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा उनको लाखों वर्ष से भी अधिक प्राचीन सिद्ध कर सकते हैं, और अपने परम्परागत जातीय इतिहास से सहज ही यह निश्चय कर सकते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् वेद तब के हैं जब सबसे प्रथम मनुष्य का संसार में प्रादुर्भाव हुआ था। गत पृष्ठों में जहाँ हमने ज्योतिष् द्वारा निकाले हुए वैदिक समय की समालोचना की है, वहाँ दिखलाया है कि ब्राह्मणग्रन्थों के कुछ भाग बाइस हज़ार वर्ष के पुराने हैं। उनके पाठ से अच्छी प्रकार विदित होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों के पूर्व का साहित्य नष्ट हो गया है। यहाँ हम अपनी इस बात की पुष्टि में कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं। छान्दोग्योपनिषद्[३] में लिखा है कि '**स होवाच। ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि**

---

१. ऋ० १०।१९०।१
२. ऋ० १०।१९०।२
३. छां० ७।१।१-२

यजुर्वेदः सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यः राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याः सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि', अर्थात् इतनी विद्याएँ मैंने पढ़ी हैं। इससे ज्ञात होता है कि इन विद्याओं का साहित्य उस समय था, परन्तु आज उसका कहीं पता नहीं है। गोपथब्राह्मण पूर्वभाग प्रथमप्रपाठक[१] में ओंकार के लिए पूछा गया है कि **'किं वै व्याकरणम्। शिक्षका किमुच्चारयन्ति किं छन्दः किं ज्योतिषं किं निरुक्तम्'**। यहाँ एक प्राचीन निरुक्त का भी पता मिलता है। इसी प्रकार शिक्षा, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष के साहित्य का भी पता मिलता है। यह यास्क का निरुक्त नहीं है, क्योंकि यास्क ने तो अपने निरुक्त में वर्त्तमान ब्राह्मणों के अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं और लिखा है कि **'इति ब्राह्मणः'**। छान्दोग्यब्राह्मण में लिखा हुआ है कि **'यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजस्य भेषजताया'**, अर्थात् मनु ने जो थोड़ा-सा कहा है वह दवा की भी दवा है। इससे ज्ञात होता है कि मनुस्मृति जिसके आधार पर बनी है वह मनुरचित कोई बहुत प्राचीन पुस्तक थी। उपनिषदों में अनेक श्लोक दूसरे ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं, परन्तु वे ग्रन्थ इस समय कहीं नहीं मिलते[२]। इसी प्रकार किन्हीं अति प्राचीन सूत्र, कल्प, ब्राह्मण, व्याकरण, मीमांसा आदि का पता भी ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

सूत्रे सूत्रं ब्राह्मणे ब्राह्मणं श्लोके श्लोकः। —गो० १।१।२३

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्नवेति तदव्ययम्। —गो० १।१।२६

कबन्धस्याथर्वणस्य पुत्रो मेधावी मीमांसकोऽनूचान आस। —गो० १।२।१०

मन्त्रकल्पब्राह्मणानामप्रयोगात्। —गो० २।२।५

तदपि श्लोकाः। —गो० २।२।५

सन्ति चैषां समानाः मन्त्राः कल्पाश्च ब्राह्मणानि च। —गो० १।५।२५

इन प्रमाणों से हमें देखना चाहिए कि यह सब साहित्य कितना प्राचीन हो सकता है। इस साहित्य के पूर्व भी हम वेदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के इतिहास को देख रहे हैं। गोपथब्राह्मण में जहाँ 'सावित्री उपनिषद्' का वर्णन किया गया है, वहाँ पर ब्राह्मणों के पूर्व साहित्य का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, परन्तु सावित्रीविद्या को परम्परा से जाननेवाले एक ऋषि ने उस श्लोक का खण्डन करके सावित्री का सत्यार्थ समझाया है। इससे ज्ञात होता है कि वर्त्तमान

---

१. गो० पू० १।२४

२. प्रश्नोपनिषद् १।७ में **'तदेतदृचाभ्युक्तम्'** लिखकर ८वीं ऋचा लिखी गई है और ३।११ से आगे का १२वाँ, ४।१४ से आगे छठा और ६।५ से आगे का भी छठा श्लोक लिखा है। छान्दोग्य ३।११।१ के आगे का दूसरा, और ३।७।६ के आगे के **'एतेद्वै ऋचौ भवतः'** दो श्लोक हैं। तैत्तिरीय २ में **'तदेषाभ्युक्ता'** कहकर आगे का श्लोक और २।५ में **'एष श्लोको भवति'** लिखकर आगे का श्लोक लिखा गया है। इसी तरह ३।७ से आगे का आठवाँ, ४।९ से आगे का दसवाँ और ५।११ से आगे का छठा श्लोक लिखा है। बृहदारण्यक १।५।२३ से आगे का और ४।४।७ से आगे का श्लोक भी प्राचीन है। इनके अतिरिक्त शतपथब्राह्मण में भी नीचे लिखे पुराने श्लोक आये हैं—

तदेष श्लोकः—कां० १० अ० ५ ब्रा० २ कं० १६

श्लोकाः—कां० १४ अ० ४ ब्रा० ३ कं० १

अथैष श्लोको भवित—कां० १४ अ० ४ ब्रा० ३ कं० ३४

तदप्येते श्लोकाः—कां० ११ अ० ३ ब्रा० १ कं० ५